एम.ए. उत्तरार्द्ध

राजनीति विज्ञान, द्वितीय प्रश्नपत्र

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे

(PRINCIPLES OF INTERNATIONAL POLITICS AND CONTEMPORARY POLITICAL ISSUES)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

4. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College,
   Bhopal (M.P.)

5. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITER

Dr Pragati Srivastava, Assistant Professor, Non-Collegiate Women's Education Board (NCWEB), University of Delhi
Units: (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विषय के रूप में विकास, प्रकृति एवं क्षेत्र। अध्ययन पद्धतियां–परंपरागत एवं वैज्ञानिक। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत–यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं विश्व–राज्य संकल्पना, मार्क्सवाद, बहुलवाद। निर्णय निर्माण खेल, संचार, सामान्य व्यवस्था तथा संरचनात्मक प्राकर्यात्मक सिद्धांत।	**इकाई 1** : अंतरराष्ट्रीय राजनीति का परिचय और सिद्धांत **(पृष्ठ 3–36)**
इकाई–2 शक्ति संकल्पना–तत्व एवं सीमाएं। शक्ति प्रबंधन–शक्ति संतुलन व आतंकी प्रतिरोध (डिटेरेंस)। राष्ट्रीय शक्ति का बदलता स्वरूप। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित। अंतरराष्ट्रीय कानून का महत्व एवं राजनय की वर्तमान के संदर्भ में भूमिका। संयुक्त राष्ट्र (U.N.O)।	**इकाई 2** : शक्ति संकल्पना **(पृष्ठ 37–74)**
इकाई–3 क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय संगठन–सार्क (S.A.A.R.C.) एवं यूरोपीय यूनियन (E.U.) अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता–आधार, भूमिका एवं महत्व। शीत युद्ध एवं शीत युद्ध की समाप्ति–कारण एवं परिणाम। उत्तर शीत युद्ध–कालीन मुद्दे।	**इकाई 3** : अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय सहयोग संगठन एवं शीत युद्ध **(पृष्ठ 75–114)**
इकाई–4 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, उत्तर–दक्षिण संवाद। नई विश्व व्यवस्था, दक्षिण–दक्षिण संवाद। वैश्वीकरण।	**इकाई 4** : नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था **(पृष्ठ 115–143)**
इकाई–5 भारत की विदेश नीति–संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन एवं रूस के साथ संबंध। समकालीन मुद्दे–मानवाधिकार, पर्यावरण, आतंकवाद एवं लैंगिक मुद्दे। (जेन्डर इश्यूज)।	**इकाई 5** : भारत की विदेश नीति एवं समकालीन मुद्दे **(पृष्ठ 145–184)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का परिचय और सिद्धांत **3–36**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति : अर्थ विकास, प्रकृति एवं क्षेत्र
  1.2.1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विकास
  1.2.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति
  1.2.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र
1.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन पद्धतियां
  1.3.1 परंपरागत पद्धति
  1.3.2 वैज्ञानिक पद्धति
1.4 अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत
  1.4.1 यथार्थवाद
  1.4.2 आदर्शवाद एवं विश्व राज्य–संकल्पना
  1.4.3 मार्क्सवाद
  1.4.4 बहुलवाद
  1.4.5 निर्णय–निर्माण सिद्धांत
  1.4.6 खेल सिद्धान्त
  1.4.7 संचार सिद्धांत
  1.4.8 सामान्य व्यवस्था सिद्धांत
  1.4.9 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक सिद्धांत
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 शक्ति संकल्पना **37–74**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 शक्ति संकल्पना : अर्थ, तत्व एवं सीमाएं
  2.2.1 राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ
  2.2.2 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व
  2.2.3 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं
2.3 शक्ति प्रबंधन
  2.3.1 शक्ति संतुलन
  2.3.2 प्रतिरोध (डिटेरेंस)
2.4 राष्ट्रीय शक्ति का बदलता स्वरूप
2.5 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित
2.6 अंतरराष्ट्रीय कानून का महत्व एवं राजनय की वर्तमान के संदर्भ में भूमिका
2.7 संयुक्त राष्ट्र

2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय सहयोग संगठन एवं शीत युद्ध 75–114

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 क्षेत्रवाद एवं क्षेत्रीय संगठन
3.2.1 दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क)
3.2.2 यूरोपीय यूनियन
3.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता
3.3.1 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता की नीति का आधार
3.3.2 असंलग्नता या गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका
3.3.3 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता का महत्व
3.4 शीत–युद्ध
3.4.1 शीत युद्ध की समाप्ति
3.4.2 शीत युद्ध की समाप्ति के कारण
3.4.3 शीत युद्ध की समाप्ति का परिणाम
3.5 उत्तर शीत युद्ध–कालीन मुद्दे
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था 115–143

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा
4.3 उत्तर–दक्षिण संवाद
4.4 नई विश्व व्यवस्था
4.5 दक्षिण–दक्षिण संवाद
4.6 वैश्वीकरण
4.6.1 विश्व व्यापार संगठन
4.6.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष
4.6.3 विश्व बैंक
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 भारत की विदेश नीति एवं समकालीन मुद्दे **145–184**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत की विदेश नीति
  5.2.1 संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंध
  5.2.2 चीन के साथ संबंध
  5.2.3 रूस के साथ संबंध
5.3 समकालीन मुद्दे
  5.3.1 मानवाधिकार
  5.3.2 पर्यावरण
  5.3.3 आतंकवाद
  5.3.4 लैंगिक मुद्दे
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. राजनीतिक शास्त्र (उत्तरार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति उन सतत् प्रक्रियाओं का अध्ययन करती है, जिनके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्र शक्ति के आधार पर अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं। इस प्रकार इसे राष्ट्र–राष्ट्रों के बीच के ऐसे व्यवहार के रूप में समझा जा सकता है जहां विभिन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा तथा अपने शक्ति संवर्धन के लिए एक–दूसरे से अंतःक्रिया करते हैं, जिससे वे अपने सभी संभावित लाभों की अधिकतम प्राप्ति कर सकें। इस संदर्भ में राष्ट्रीय हित अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख लक्ष्य है। संघर्ष इसकी दिशा तय करता है और शक्ति इसकी लक्ष्य प्राप्ति का साधन है। इस प्रक्रिया का प्रकटीकरण राज्यों की विदेश नीतियों के माध्यम से होता है अतः अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विदेश नीतियों का आकलन एक अभिन्न अंग बन गया है। राज्यों की इन विदेश नीतियों के स्वरूप से ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में बदलाव आता है। इन्हीं के कारण विश्व में शांति व सहयोग अथवा युद्ध की परिस्थितियों का जन्म होता है। न केवल वर्तमान बल्कि भावी अंतरराष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप भी इन्हीं राज्यों के आपसी संबंधों की प्रगाढ़ता एवं तनाव पर निर्भर करता है।

इस पुस्तक में अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांतों का तथ्यपरक वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। पुस्तक में प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय–विश्लेषण से पूर्व उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। इस पुस्तक में अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं समकालीन मुद्दों से संदर्भित अहम विषयों का सांगोपांग समायोजन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है।

पहली इकाई में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, विषय क्षेत्र तथा उसके विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण किया गया है।

दूसरी इकाई शक्ति संकल्पना, शक्ति प्रबंधन तथा अंतरराष्ट्रीय कानून पर केंद्रित है जिसमें शक्ति संकल्पना के तत्व एवं सीमाएं, राष्ट्रीय शक्ति का बदलता स्वरूप तथा अंतरराष्ट्रीय कानून के महत्व को समझाया गया है।

तीसरी इकाई अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय सहयोग संगठन एवं शीत युद्ध पर आधारित है। इसमें क्षेत्रीय संगठन, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता तथा शीत युद्ध को समझाया गया है।

चौथी इकाई में नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में समझाया गया है जिसमें नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरूप, उत्तर–दक्षिण संवाद, नई विश्व व्यवस्था, दक्षिण–दक्षिण संवाद तथा वैश्वीकरण की विवेचना की गई है।

टिप्पणी

पांचवीं इकाई भारत की विदेश नीति एवं समकालीन मुद्दे पर केंद्रित है जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन एवं रूस के संबंधों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही भारत की विदेश नीति के समकालीन मुद्दे जैसे मानवाधिकार, पर्यावरण, आतंकवाद एवं लैंगिक मुद्दों का विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दों को सरल भाषा में रुचिकर बनाकर लिखा गया है, जिससे विद्यार्थी सभी पहलुओं को समझने में सक्षम हो पाएं। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करेगी।

इकाई 1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का परिचय और सिद्धांत

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति : अर्थ विकास, प्रकृति एवं क्षेत्र
  1.2.1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विकास
  1.2.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति
  1.2.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र
1.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन पद्धतियां
  1.3.1 परंपरागत पद्धति
  1.3.2 वैज्ञानिक पद्धति
1.4 अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत
  1.4.1 यथार्थवाद
  1.4.2 आदर्शवाद एवं विश्व राज्य–संकल्पना
  1.4.3 मार्क्सवाद
  1.4.4 बहुलवाद
  1.4.5 निर्णय–निर्माण सिद्धांत
  1.4.6 खेल सिद्धान्त
  1.4.7 संचार सिद्धांत
  1.4.8 सामान्य व्यवस्था सिद्धांत
  1.4.9 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक सिद्धांत
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

वर्तमान समय में संपूर्ण विश्व की आबादी अलग–अलग क्षेत्रीय या राजनीतिक समुदाय की भौगोलिक सीमाओं में रहती है, जिन्हें हम राष्ट्र, राज्य या देश कहते हैं। ये राष्ट्र–राज्य एक दूसरे से कानून और संप्रभुता की दृष्टि से स्वतंत्र हैं; लेकिन इसका ये मतलब नहीं की ये एक–दूसरे से पूर्णतः अलग हैं। ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक दूसरे पर निर्भर भी रहते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति इन राष्ट्र–राज्यों की विभिन्न गतिविधियों पर केंद्रित है।

आज वैश्वीकरण के बढ़ते प्रभाव और सूचना एवं तकनीकी के विकास ने पूरे विश्व के देशों को और अधिक पास ला दिया है, जिससे अंतरराष्ट्रीय राजनीति, अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया है।

इस इकाई में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, उसकी प्रकृति एवं क्षेत्र, अध्ययन पद्धतियां, और तत्संदर्भित विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना की गई है।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अर्थ और उसके अध्ययन विषय के विकास को समझ पाएंगे।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति, क्षेत्र और अध्ययन पद्धतियों से परिचित हो पाएंगे।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति के मुख्य सिद्धांतों यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं मार्क्सवाद में अंतर कर पाएंगे
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति खेल सिद्धांत, निर्णय निर्माण और व्यवस्था सिद्धांतों पर विमर्श कर पाएंगे।

1.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति : अर्थ विकास, प्रकृति एवं क्षेत्र

अंतरराष्ट्रीय राजनीति की संकल्पना का प्रयोग अध्ययन के एक 'अनुशासन' और एक 'व्यवहार' दोनों ही संदर्भ में किया जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने से पहले अंतरराष्ट्रीय संबंध को समझना आवश्यक है। समकालीन समय में अंतरराष्ट्रीय संबंध से तात्पर्य संप्रभुता राष्ट्र–राज्य के बीच संबंधों तथा अन्य गैर–राज्य अधिकर्ताओं जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठनों, गैर–सरकारी संगठनों एवं बहु–राष्ट्रीय निगमों की नीतियों, गतिविधियों व भूमिकाओं सहित विभिन्न अंतरराष्ट्रीय घटनाओं और मुद्दों के अध्ययन से है। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय संबंध अपनी प्राचीन परिभाषा जिसमें राज्यों के बीच के आधिकारिक राजनीतिक संबंधों से अधिक विस्तृत है। वर्तमान में, विश्व को प्रभावित करने वाली कई घटनाएं, जैसे– सशस्त्र संघर्ष, व्यापार और वित्त, कानून, पर्यावरणीय मुद्दे, स्वास्थ्य चुनौतियां और बहुत कुछ अंतरराष्ट्रीय संबंधों को परिभाषित करते हैं। जबकि अंतरराष्ट्रीय संबंध के राजनीतिक आयाम अर्थात विभिन्न राष्ट्र–राज्यों के बीच के राजनीतिक संबंधों और अन्तः क्रियाओं का अध्ययन ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति उन सतत् प्रक्रियाओं का अध्ययन करती है, जिसके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्र शक्ति के आधार पर अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं। इस प्रकार इसे राष्ट्र –राज्यों के बीच के ऐसे व्यवहार के रूप में समझा जा सकता है, जहां विभिन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा तथा अपने शक्ति संवर्धन के लिए एक–दूसरे से अंतर्क्रिया करते हैं, जिससे वह अपने सभी संभावित लाभों की अधिकतम प्राप्ति कर सकें। इस संदर्भ में राष्ट्रीय हित, अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख लक्ष्य है; संघर्ष इसकी दिशा तय करता और शक्ति इसके लक्ष्य प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

हॉफमैन के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति 'उन कारकों और गतिविधियों से संबंधित है, जो उन मूलभूत इकाइयों की बाह्य नीतियों और शक्तियों को प्रभावित करती

टिप्पणी

है, जिनमें विश्व विभाजित है'। हार्टमैन अंतरराष्ट्रीय राजनीति को परिभाषित करते हुए कहते हैं की, "अंतरराष्ट्रीय राजनीति अध्ययन के एक विषय के रूप में उन प्रक्रियाओं पर आधारित है जिनसे एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के सापेक्ष अपने राष्ट्रीय हित का निर्माण करते हैं।" इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति राज्यों के बीच संबंधों, अन्तर्क्रियाओं, शक्ति–संघर्ष एवं राज्य की विदेश नीतियों से संबंधित है।

प्रायः अंतरराष्ट्रीय संबंध और अंतरराष्ट्रीय राजनीति को एक दूसरे के पूरक या पर्याय के रूप में उपयोग किया जाता है। कुछ विद्वानों ने तो यह माना है कि, अंतरराष्ट्रीय संबंध केवल अंतरराष्ट्रीय राजनीति का ही अध्ययन है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान मार्गेथाऊ भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति को अंतरराष्ट्रीय संबंधों के मूल के रूप में परिभाषित करते हैं और उनके अनुसार, अंतरराष्ट्रीय राजनीति की मुख्य विषय–वस्तु संप्रभु देशों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष है क्योंकि शक्ति ही वह साधन है जिसके माध्यम से राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को बढ़ावा देते हैं ।

किंतु वास्तव में अंतरराष्ट्रीय संबंध और अंतरराष्ट्रीय राजनीति दोनों में कुछ अंतर विद्यमान हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंध एक विस्तृत अवधारणा है जिसमें संप्रभु राज्यों के बीच के संबंधों के सभी आयामों– आर्थिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक एवं सांस्कृतिक को शामिल किया जाता है जबकि अंतरराष्ट्रीय राजनीति, अंतरराष्ट्रीय संबंध के केवल राजनीतिक पहलू का अध्ययन है, जो संप्रभु राज्यों की सरकारों के बीच संबंधों और संघर्ष पर ही अपना ध्यान केंद्रित करती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वान पामर एवं पर्किन्स के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय संबंध का क्षेत्र अंतरराष्ट्रीय राजनीति की तुलना में अधिक विस्तृत है। अंतरराष्ट्रीय संबंध सिर्फ राज्यों और अन्य राजनीतिक इकाइयों के बीच संबंधों पर आधारित राजनीति से संबंधित नहीं है बल्कि विश्व समुदाय के लोगों और समूहों के बीच संबंधों की समग्रता से है। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र अंतरराष्ट्रीय संबंधों की तुलना में थोड़ा संकीर्ण है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अंतरराष्ट्रीय संबंधों के साथ एक महत्वपूर्ण अंतर ये भी है की अंतरराष्ट्रीय संबंध मुख्य रूप से राष्ट्रों के बीच के व्यवहार के शांतिपूर्ण पहलुओं और सहकारी क्षेत्रों पर अपना ध्यान केंद्रित करता है, जबकि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शांतिपूर्ण तरीकों के कुछ पहलुओं को ही छोड़ दिया जाए तो इसका मूल शक्ति राजनीति, संघर्षों और राष्ट्रीय हितों में ही निहित है। इसके अतिरिक्त दोनों की अध्ययन पद्धति में भी कुछ अंतर देखने को मिलता है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के लिए प्रायः व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाता है और अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग अधिक होता है।

हालांकि यह सच है की अंतरराष्ट्रीय राजनीति ने पारंपरिक रूप से युद्ध और शांति तथा अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया है किन्तु हाल के वर्षों में कुछ अन्य मुद्दों जैसे अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, गैर–राज्य अभिकर्ता और पर्यावरण इत्यादि ने अपना ध्यान आकर्षित किया है हालांकि यह सच है कि इस क्षेत्र ने पारंपरिक रूप से युद्ध और शांति के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया है और अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे–क्षेत्र, जैसे कि अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था, ने हाल के वर्षों में ध्यान

टिप्पणी

आकर्षित किया है। इन पहलुओं में विशेषकर, आर्थिक पहलु ने वैश्विक राजनीति को प्रभावित किया है। इस प्रभाव को अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के विभिन्न पक्षों में देखा जा सकता है उदाहरण के लिए, वैश्वीकरण, उदारीकरण की नीति, विभिन्न क्षेत्रीय आर्थिक समूहों का गठन, व शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य व्यापार युद्ध आदि। अतः वर्तमान समय में अंतरराष्ट्रीय राजनीति ये दोनों ही पक्ष – राजनीतिक और आर्थिक का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इन्हें समझने के लिए न केवल अंतरराष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि को समझा जाना आवश्यक है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राजनीति के वास्तविक स्वरूप के बारे में भी विचार करने की आवश्यकता है।

1.2.1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विकास

एक अध्ययन विषय के रूप में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का उदय 19वीं शताब्दी के अंत में हुआ है परंतु व्यवहारिक रूप में राष्ट्रों के बीच राजनीति मानव इतिहास की प्राचीन घटना रही है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रारंभिक ज्ञान के बारे में प्राचीन राजनीतिक दार्शनिकों के विश्लेषणों से पता लगता है। सर्वप्रथम प्राचीन यूनानी इतिहासकार 'थ्यूसिडाइड्स' , जिन्होंने अपनी रचना '"हिस्ट्री ऑफ़ द पेलोपोनेसियन वॉर" में एथेन्स और स्पार्टा के बीच हुए पेलोपोनेसियन युद्ध का इतिहास लिखा था। थ्यूसिडाइड्स का विश्लेषण इस सामान्य सिद्धांत को आगे बढ़ाने का पहला ज्ञात प्रयास था की अंतरराष्ट्रीय राजनीति कैसे काम करती है। इसी प्रकार भारतीय चिंतन में आचार्य कौटिल्य ने अपनी कृति "अर्थशास्त्र' और यूरोप में निकोलो मैकियावली ने अपनी रचना "द प्रिन्स" में अंतरराष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति की गूढ़ व्याख्या प्रस्तुत की। किन्तु प्राचीनकाल में अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राजनीति का विस्तार सीमित था।

पेलोपोनेसियन युद्ध

प्राचीन यूनान के दो प्रमुख नगर–राज्यों एथेंस और स्पार्टा के मध्य (431BC से – 404 BC तक) चलने वाले युद्ध को पेलोपोनेसिन युद्ध के नाम से जाना जाता है। इस युद्ध का विस्तृत विवरण यूनानी इतिहासकार थ्यूसिडाइड्स के लेखन 'द हिस्ट्री ऑफ़ पेलोपोनेसियन वार' में मिलता है। यह युद्ध इसलिए महत्वपूर्ण माना गया, क्योंकि इसके द्वारा थ्यूसिडाइड्स ने संघर्ष, प्रतिद्वंदिता और न्याय जैसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व का सर्वप्रथम विश्लेषण प्रस्तुत किया। उसके अनुसार यह युद्ध एथेंस और स्पार्टा के बीच शक्ति के बदलते वितरण का परिणाम था। उसका मानना था कि, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का वितरण वह महत्वपूर्ण कारक होता है, जिस पर युद्ध और शांति निर्भर करती है। जब तक एथेंस की अपेक्षा स्पार्टा अधिक शक्तिशाली था तब तक युद्ध का कोई कारण नहीं था। किंतु जैसे ही एथेंस की शक्ति बढ़ने लगी स्पार्टा को यह भय सताने लगा की एथेंस स्पार्टा पर आक्रमण करके स्पार्टा को पराजित कर सकता है। इस खतरे को टालने के लिए स्पार्टा ने एथेंस पर सर्वप्रथम आक्रमण किया। थ्यूसिडाइड्स के अनुसार की 'शक्तिशाली राष्ट्र वही करते हैं जो वे कर सकते हैं और कमजोर राष्ट्रों को वह निश्चित रूप से ही भुगतना पड़ता है' अंतरराष्ट्रीय राजनीति उनके अनुसार न्याय और नैतिकता पर आधारित नहीं है। थ्यूसिडाइड्स का यह विश्लेषण अंतरराष्ट्रीय राजनीति के लिए आज भी प्रासंगिक है।

टिप्पणी

कई विद्वान अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रादुर्भाव 1648 में हुई 'वेस्टफेलिया की शांति–संधि' से मानते हैं। इस संधि के माध्यम से आधुनिक राष्ट्र–राज्य प्रणाली का विकास हुआ। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्र–राज्य सबसे महत्वपूर्ण कर्ता रहे हैं। वेस्टफेलिया की संधि ने राष्ट्र–राज्य के विकास एवं कूटनीति और सैन्यीकरण को संस्थागत करने में सहायता की। 18वीं शताब्दी में अमेरिकन और फ्रांसीसी क्रांति के साथ अंतरराष्ट्रीय भावनाएं और अधिक प्रबल होने लगी।

वेस्टफेलिया की शांति –संधि (1648)

1648 में हस्ताक्षरित वेस्टफेलिया की शांति संधि ने यूरोप में चलने वाले तीस वर्षीय युद्ध का अंत किया और संप्रभुता राज्य की अवधारणा को जन्म दिया, जिससे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के नाम से जाना जाता है। तीस वर्षीय युद्ध पवित्र रोमन साम्राज्य के अंतर्गत कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट्स इकाइयों के बीच होने वाला संघर्ष था, जो धीरे–धीरे पूरे यूरोप में फैल गया था। यह एक धार्मिक संघर्ष के साथ–साथ यूरोप पर राजनीतिक नियंत्रण की धारणा से भी प्रेरित युद्ध था, जिसने यूरोप को भारी क्षति पहुंचाई थी। वेस्टफेलिया की संधि ने इस तीस–वर्ष तक चलने वाले युद्ध का अंत किया। वास्तव में यह संधि दो अलग–अलग संधियों को सम्मिलित करती हैः पहली मनस्टर शहर में पवित्र रोमन सम्राट और फ्रांस के राजा के बीच हस्ताक्षरित और दूसरी ओजनाब्रुक में रोमन सम्राट और स्वीडन के राजा के मध्य हस्ताक्षरित संधि। इन दोनों संधियों ने यूरोप में लंबे समय से चल रहे संघर्ष का अंत किया। वेस्टफेलिया की संधि ने राजनीतिक और धार्मिक सभी मामलों में क्षेत्रीय संप्रभुता की स्थापना की। संधि की प्राथमिक विशेषताओं में से प्रत्येकः व्यापक औपचारिक धार्मिक स्वतंत्रता, कूटनीति की शुरुआत और संप्रभुता राज्य की मान्यता ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इस संधि के दीर्घकालीन प्रभावों में योगदान दिया है।

एक शैक्षणिक विषय के रूप में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विकास प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के विनाशकारी परिणामों में विश्व व्यवस्था को बनाए रखने और शांति स्थापित करने के नए विकल्पों के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित किया। परिणामस्वरूप, 1919 में इंग्लैंड के वेल्स विश्वविद्यालय में अंतरराष्ट्रीय संबंध के एक अलग विभाग की स्थापना की गई। यह विषय के रूप में 1920 तक यूरोप और अमेरिका के कई विश्वविद्यालय में स्थापित हुआ। इसके साथ ही कई अन्य स्थानों पर, अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विभाग की में स्थापना की गईं, जैसे– हिब्रू विश्वविद्यालय, जेरूसलम (1929), ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (1930), लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स (1936) और एडिनबर्ग विश्वविद्यालय (1948)। वुड्रो विल्सन, अल्फ्रेड ज़िमर्न और डेविड डेविस का नाम अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को एक स्वायत्त विषय के रूप में स्थापित करने के लिए लिया जाता है।

राष्ट्र संघ की स्थापना ने भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति को एक अलग विषय के रूप में विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संघ ने अंतरराष्ट्रीय चर्चा और अंतरराष्ट्रीय सहयोग संस्थान के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय अध्ययन सम्मेलनों की श्रृंखला को प्रायोजित करके अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। जेनेवा इंस्टिट्यूट ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस ने राष्ट्र और विश्वविद्यालय के स्तर पर अंतरराष्ट्रीय राजनीति को एक विषय के रूप में विकसित करने का कार्य किया। प्रथम विश्व युद्ध

टिप्पणी

की त्रासदी ने शुरुआती अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विचारकों को और अधिक शांतिपूर्ण विश्व बनाने के तरीकों को खोजने पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रोत्साहित किया। अतः इस समय अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता मिली, जिसका मुख्य उद्देश्य भविष्य में युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को सुरक्षित करना था। इसलिए शांतिपूर्ण सह अस्तित्व, अंतरराष्ट्रीय संगठन और अंतरराष्ट्रीय कानूनों की भूमिका को महत्व दिया गया।

तेजी से बदलती हुई अंतरराष्ट्रीय स्थिति में शांति बहुत समय तक कायम न रह सकी और 1939 में विश्वयुद्ध की शुरुआत हुई। दूसरे विश्व युद्ध सहित अन्य बाद के अंतरराष्ट्रीय संघर्षों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विश्व को देखने के तरीके को बदल दिया और उसके हितों की सीमा का विस्तार किया है। इस विश्व युद्ध के दौरान विश्व के विभिन्न भागों में सैन्य गुटों को जन्म दिया । इसकी वजह से अंतरराष्ट्रीय संबंधों में क्षेत्रीय अध्ययन को बढ़ावा मिला। साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध ने अंतरराष्ट्रीय अध्ययन के आदर्शवादी दृष्टिकोण से लोगों के विश्वास को कम कर दिया और यथार्थवादी दृष्टिकोण के रूप में अंतरराष्ट्रीय संबंधों की व्याख्या की गई । यथार्थवाद, आदर्शवाद और नैतिकता के स्थान पर शक्ति, राजनीति की वास्तविकता पर केंद्रित है। यथार्थवादी यह मानते हैं शक्ति एक साधन है और अपने आप में अंत भी हैं अंतरराष्ट्रीय राजनीति सत्ता के लिए संघर्ष के अलावा कुछ नहीं है। ई. एच. कार, हांस जे. मार्गेथाऊ, केनेथ डब्लू थॉमसन और हेनरी किसिंजर जैसे राजनीतिक यथार्थवादी सिद्धांतकारों ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विषय के रूप में विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अब अंतरराष्ट्रीय संबंध केवल यूरोप और पश्चिमी राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रह गया बल्कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवोदित राष्ट्रों में भी अंतरराष्ट्रीय अध्ययन के विषय का विकास हुआ।

1960 के मध्य से अमेरिका में "व्यवहारवादी क्रान्ति" के कारण सामाजिक विज्ञानों में व्यवहारवादी दृष्टिकोण की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। व्यवहारवाद ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषण के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाये जाने पर बल दिया। 1970 के दशक के बाद से, अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था, समाजशास्त्र और उत्तर–उपनिवेशवादी दृष्टिकोण को सम्मिलित करने के लिए प्रयास किये गए। बीसवीं सदी के अंत तक अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र में उत्तर–व्यावहारवाद, नव–उदारवाद और नव–यथार्थवाद जैसे सिद्धांतों के अध्ययन पर केंद्रित हो गया। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय संगठनों और बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय ने नव–उदारवादी चिंतन को जन्म दिया, जिसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राज्य के स्थान पर गैर–राज्य अधिकर्ताओ की बहुलता और उनकी गतिविधियों को प्रमुखता प्रदान की। ई. हास, रॉबर्ट कोहेन, जोसेफ़ नाइ जैसे नव–उदारवादी चिंतकों ने अन्योन्याश्रित सिद्धांत, सुरक्षा समुदायों, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक सहयोग और अंतरराष्ट्रीय शासन पर जोर दिया।

वही केनेथ वाल्ट्ज़ की रचना "थ्योरी ऑफ़ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स" 1979 ने नव–यथार्थवादी बहस के आधार को सुनिश्चित किया। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना और अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था पर संरचना के प्रभावों पर ध्यान केंद्रित किया। इन दृष्टिकोणों और सिद्धांतों ने आज एक स्वायत्त विषय के रूप में अंतरराष्ट्रीय संबंधों

को आकर देने में सहायता की है। बदलती वैश्विक परिस्थितियों के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति एक अध्ययन विषय के रूप में निरंतर अपने आपको विकसित कर रहा है।

टिप्पणी

1.2.2 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र शैक्षणिक विषय के रूप में विकसित हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व इसका अध्ययन सामाजिक विज्ञान के विभिन्न विषयों के अंतर्गत ही किया जाता था। लेकिन बाद के वर्षों में यह निर्भरता कम हो गयी है। एक स्वायत्त अनुशासन के लिए मुख्य आवश्यकता होती है, एक विशिष्ट क्षेत्र और एक विशिष्ट कार्यप्रणाली। अंतरराष्ट्रीय राजनीति इन सभी मानदंडों को पूरा करते हैं जो इसे एक स्वायत्त विषय या अनुशासन के रूप में स्थापित करते हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंध और राजनीति ने एक स्वतंत्र विषय के रूप में अपने स्वयं के सिद्धांतों, दृष्टिकोणों और अवधारणाओं को विकसित किया है। किन्तु साथ ही, इन वर्षों में अंतरराष्ट्रीय राजनीति की अन्य सामाजिक विज्ञान के विषयों जैसे राजनीति–विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, कानून एवं समाजशास्त्र इत्यादि के साथ अंतर्क्रिया में भी वृद्धि हुई है। जिसके कारण अंतर–अनुशासनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला है।

वर्तमान में बढती हुई मानव–गतिविधियों के परिणामस्वरूप, विभिन्न राष्ट्र–राज्यों के बीच संबंधों में बदलाव आये हैं। इन निरंतर परिवर्तनों के कारण अंतरराष्ट्रीय संबंध और राजनीति के अर्थ, प्रकृति और कार्यक्षेत्र में भी परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं। तकनीकी विकास, नए अंतरराष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठनो का उदय, परमाणु अनुसंधान, नयी विश्व–व्यवस्था का प्रादुर्भाव, बहु–ध्रुवीय विश्व, गैर–राज्य अभिकर्ताओं की बढ़ती भूमिका तथा आतंकवाद, पर्यावरण व वैश्विक महामारी आदि ऐसे कई कारक उपस्थित हैं, जो अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति को प्रभावित कर रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति की इन नवीन प्रवृतियों ने इसकी प्रकृति को और भी जटिल बना दिया है।

समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र– राज्यों और अंतरराष्ट्रीय संगठन और समूहों के बीच राजनीति से बहुत आगे निकल गया है। वर्तमान में यह राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगोल, समाजशास्त्र, कानून, मनोविज्ञान, संस्कृति और दर्शन के अंतरराष्ट्रीय पहलुओं को एक साथ ले कर चलने वाला एक बहु–विषयक (multi-displinery) अध्ययन विषय बन गया है।

1.2.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र से तात्पर्य है की अंतरराष्ट्रीय अध्ययन का विस्तार कहां तक है अथवा इसकी सीमा कहां तक हैं। वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र अत्यंत व्यापक हो गया है। प्रारम्भ में जहां अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन–क्षेत्र राष्ट्र–राज्यों के मध्य संबंधों, उनकी राजनीति, कूटनीति, इतिहास, अंतरराष्ट्रीय कानून और संगठनों के अध्ययन तक सीमित था, वहीं द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अध्ययन क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ। एशिया और अफ्रीकी राष्ट्रों के मुक्ति संघर्षों, विभिन्न राज्यों के बीच बढ़ते संपर्कों की जटिलता, तकनीकी विकास, क्षेत्रीय राजनीतिक, आर्थिक व सैन्य सहयोग गठबन्धनों के परिणामस्वरूप अंतरराष्ट्रीय अध्ययन के नये सिद्धांत और अवधारणाएं सामने आयी।

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सभी पहलुओं अंतरराष्ट्रीय, राजनीतिक–अर्थव्यवस्था, अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा, पर्यावरण के साथ राज्यों के बीच बढ़ती निर्भरता के कारण अंतर्राज्यीय गतिविधियों और जटिलताओं का भी अध्ययन करता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति एक गतिशील अनुशासन है। वैश्वीकरण के दौर में राज्यों की संप्रभुता को पारंपरिक खतरों की तुलना में गैर–पारंपरिक खतरों ने अधिक आघात पहुंचाया है, जिसकी वजह से अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कट्टरतावाद, आतंकवाद, जातीय–संघर्ष, मानवाधिकार जैसे मुद्दों और चुनातियों का अध्ययन किया जा रहा है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र और विषय–वस्तु की भिन्न– भिन्न व्याख्या की गयी है। पामर और पर्किन्स के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र के अंतर्गत राष्ट्रीय शक्ति, राज्य– प्रणाली, युद्ध, कूटनीति, शक्ति संतुलन, राष्ट्रीय हित, सामूहिक सुरक्षा, साम्राज्यवाद, प्रचार, अंतरराष्ट्रीय कानूनों, संगठनों, परमाणु शास्त्रों और परिवर्तित अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था जैसे विषय को शामिल करते हैं।

जी. आर. बेरिज अंतरराष्ट्रीय राजनीति की विषय–वस्तु में व्यापक स्तर पर इन तीन को सम्मिलित करते हैं– 'पहला, विभिन्न श्रेणियों के राज्यों (महाशक्तियां, पूंजीवादी राज्य, उदार लोकतंत्र और इसी प्रकार के अन्य) की गतिविधियां तथा अन्य अंतरराष्ट्रीय अभिकर्ता जैसे बहु–राष्ट्रीय निगम; दूसरा, वे साधन जो वे आमतौर पर अपनी नीतियों के अनुसरण में इस्तेमाल करते हैं, जैसे प्रचार; और तीसरा बात, 'राज्य– प्रणाली' के नियम और संस्थाएं जिनके अंतर्गत ये राज्य और अन्य अभिकर्ता कमोबेश स्वेछा से काम करते हैं'। जैक्सन और सोरेनसन दावा करते हैं कि समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति न केवल राज्यों के बीच राजनीतिक संबंधों के साथ बल्कि आर्थिक–अंतर्निर्भरता, अंतरराष्ट्रीय संगठनों, अंतरराष्ट्रीय निगमों, मानवाधिकार, पर्यावरण, विकास, आतंकवाद जैसे अन्य विषयों के एक मेजबान के रूप में सामने आया है।

इस प्रकार आज अंतरराष्ट्रीय राजनीति अपने अध्ययन क्षेत्र में निम्लिखित बिंदुओं को सम्मिलित करता हैः

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न सिद्धांतों, दृष्टिकोणों और विधियों का अध्ययन जैसे– आदर्शवाद, यथार्थवाद, मार्क्सवाद, बहुलवाद इत्यादि। इसके अतिरिक्त कई अन्य सिद्धांत उदाहरण के लिए, खेल सिद्धांत, निर्णय–निर्माण, प्रकार्यात्मक, व्यवस्था सिद्धांत का भी अध्ययन किया जाता है।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति सभी वैश्विक संस्थाओं और संगठनों जैसे– राष्ट्र–संघ, संयुक्त राष्ट्र–संघ, अंतरराष्ट्रीय न्यायालय आदि के संगठन, कार्य और भूमिका का अध्ययन करता है।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक विचारधाराओं, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व नव–उपनिवेशवाद का अध्ययन।
- अंतरराष्ट्रीय कानून, विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संधियां और समझौते अंतरराष्ट्रीय संबंधों की विषय–वस्तु रहें हैं।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति केवल राज्य ही नहीं बल्कि गैर–राज्य अधिकर्ताओं जैसे– अंतरराष्ट्रीय गैर–सरकारी संगठनों (INGO), बहुराष्ट्रीय निगमों (MNCs) और

अंतःसरकारी संगठनों (IGO) को अध्ययन करता जो विश्व राजनीति को प्रभावित कर रहे हैं।

टिप्पणी

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, अंतरराष्ट्रीय व्यापार, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों जैसे विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक आदि की गतिविधियों और भूमिकाओं के साथ ही विकसित व विकासशील देशों के आर्थिक स्थिति और संबंधों, वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की अवधारणाओं का अध्ययन भी करता है।
- इस क्षेत्र के अंतर्गत क्षेत्रीय संगठनों जैसे आसियान, सार्क, अफ्रीकी संघ, और ब्रिक्स आदि का अध्ययन भी सम्मिलित है।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति विभिन्न वैश्विक घटनाओं और मुद्दों जैसे– युद्ध, शांति, शस्त्रीकरण और निशस्त्रीकरण, आतंकवाद, बहु–ध्रुवीय विश्व व्यवस्था, भू–राजनीती, मानव सुरक्षा और पर्यावरण सुरक्षा इत्यादि का अध्ययन करता है।

इस प्रकार वर्तमान समय में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र बहुत विशाल है और ऊपर वर्णित बिंदु अंतिम नहीं हैं जो इसके क्षेत्र को निर्धारित करें। यह विषय विश्व की बदलती घटनाओं और अंतरराष्ट्रीय राजनीति की नयी जुड़ती प्रवृतियों के साथ अपने दायरे को और अधिक विस्तृत कर रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस शताब्दी के अंत में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का उदय हुआ?
   (क) 17वीं शताब्दी (ख) 18वीं शताब्दी
   (ग) 19वीं शताब्दी (घ) 20वीं शताब्दी
2. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत किन क्षेत्रीय संगठनों का अध्ययन किया जाता है?
   (क) आसियान (ख) सार्क
   (ग) ब्रिक्स (घ) उपरोक्त सभी

1.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन पद्धतियां

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की मुख्य रूप से दो पद्धतियां हैं – परंपरागत एवं वैज्ञानिक पद्धति।

1.3.1 परंपरागत पद्धति

परंपरागत पद्धति अंतरराष्ट्रीय संबंध और राजनीति के अध्ययन की एक प्रमुख पद्धति है जिसका प्रयोग अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा किया जाता रहा है। परंपरगत पद्धति अपने विश्लेषण की एक इकाई के रूप में राज्यों के अध्ययन पर अपना ध्यान केंद्रित करती है। यह राष्ट्रीय–हित, राष्ट्रीय–शक्ति, राज्यों के मध्य शक्ति–संतुलन और कूटनीति आदि अवधारणाओं के आधार पर राष्ट्र–राज्य और सरकारों के व्यवहार की व्याख्या करती है। बेहतर अंतर्दृष्टि विकसित करने के प्रयास में अंतरराष्ट्रीय कानून, राजनयिक इतिहास और दर्शन के अध्ययन पर जोर देती है। परंपरागत पद्धति,

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को इतिहास, मूल्यों और मानकों पर आधारित करती है, अतः यह अध्ययन के वैज्ञानिक पद्धति पर विश्वास नहीं करती जो कठोर वैज्ञानिक मानदण्डों तक सीमित है।

टिप्पणी

परंपरागत पद्धति के अतंर्गत निम्नलिखित पद्धतियां शामिल हैं –

- ऐतिहासिक पद्धति – ऐतिहासिक पद्धति अंतरराष्ट्रीय संबंधों और राजनीति के कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर बल देती है जैसे की राज्य प्रणाली की उत्पत्ति और विशेषताएं, युद्धों के कारणों और शांति के तरीके, कूटनीतिक इतिहास, राज्यों के राजनयिक संबंध इत्यादि। यह ऐतिहासिक तथ्यों और सूचनाओं को एक अभिलेख के रूप में मानती है जो हमें वर्तमान अंतरराष्ट्रीय संबंधों को समझने में सहायता करते हैं।
- संस्थागत पद्धति– अंतरराष्ट्रीय अध्ययन की एक और पारंपरिक अध्ययन पद्धति है, जो प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य बहुत लोकप्रिय रही है। संस्थागत पद्धति का मुख्य उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय संगठन, उनकी संरचना, शक्ति और कानूनी ढांचे का अध्ययन करना है।
- दार्शनिक पद्धति– दार्शनिक पद्धति अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन नैतिकता और मूल्यों के आधार पर करती है। यह पद्धति अंतरराष्ट्रीय राजनीति को "कैसा होना चाहिए" पर बल देती है इसलिए इसकी आलोचना 'अमूर्त' और 'काल्पनिक' कह कर की जाती है।
- क़ानूनी पद्धति– अंतरराष्ट्रीय अध्ययन की यह परंपरागत पद्धति अंतरराष्ट्रीय कानूनों, संस्थाओं, संधियों और समझौतों को आधार बनाकर अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण और अध्ययन का प्रयास करती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वान् ग्रोशियस का नाम प्रमुख है जिन्होंने अपने अध्ययन में इस पद्धति का उपयोग किया।

1.3.2 वैज्ञानिक पद्धति

परंपरागत पद्धति की सीमाओं और 1960 के दशक में अमेरिका में शुरू हुई व्यवहारवादी क्रांति के परिणामस्वरूप सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का विकास हुआ। वैज्ञानिक पद्धति अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों के अनुप्रयोग पर बल देती है, जिसमें औपचारिक परिकल्पना परीक्षण, और सांख्यिकीय पद्धतियों का उपयोग शामिल है। यह संख्यात्मक आंकड़ों के आधार पर अंतरराष्ट्रीय घटनाओं का विश्लेषण करने का प्रयास करती है।

वैज्ञानिक पद्धति परंपरागत पद्धतियों जैसे दार्शनिक, क़ानूनी और संस्थागत पद्धतियों को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के वास्तविक पहलुओं को समझने के लिए अपर्याप्त और अस्पष्ट मानती है। यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के लिए मूल्यों पर आधारित अध्ययन को स्वीकार नहीं करती है बल्कि, मूल्य निरपेक्ष दृष्टिकोण पर जोर देती है। यह वैश्विक राजनीति की वास्तविकताओं से खुद को अलग नहीं करती है, जैसा की कुछ परंपरागत पद्धतियों में देखने को मिलता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप के अध्ययन हेतु यह वैज्ञानिक सिद्धांतों और विधियों के प्रयोग के साथ इसने मूल्यों और आदर्शों से नाता

तोड़ लिया है। खेल सिद्धांत संचार सिद्धांत, सौदेबाजी और निर्णय निर्माण सिद्धांत जैसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत वैज्ञानिक पद्धति का ही परिणाम रहें हैं।

टिप्पणी

वैज्ञानिक पद्धति अंतःअनुशासनात्मक अध्ययन पर विश्वास करती है, जो बदलती सामाजिक संरचनाओं की जांच और राजनीतिक शक्ति के वितरण के लिए विश्लेषण का आधार प्रदान करता है। यह राज्यों और अन्य अंतरराष्ट्रीय अभिकर्ताओं के व्यवहार के पीछे के कारणों को समझने पर केंद्रित है। वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा विभिन्न राष्ट्रों की संस्कृति, संघर्ष की स्थितियों, अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर प्रचार और रूढ़िवादी विचारों के प्रभाव को समझने में सहायता मिली।

अपनी प्रगति जांचिए

3. परंपरागत पद्धति के अंतर्गत इनमें से किस पद्धति को शामिल नहीं किया गया है?

   (क) संस्थागत पद्धति (ख) दार्शनिक पद्धति

   (ग) वैज्ञानिक पद्धति (घ) कानूनी पद्धति

4. किस दशक में सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का विकास हुआ?

   (क) सन् 1950 (ख) सन् 1960

   (ग) सन् 1970 (घ) सन् 1980

1.4 अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत

सिद्धांत किसी घटना के पहलू की व्यवस्थित ढंग से पुष्ट की गयी व्याख्या है, जिसमें नियम, परिकल्पना और तथ्य सम्मिलित होते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सिद्धांत एक ऐसा वैचारिक ढांचा प्रदान करने का कार्य करते हैं, जिससे अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को समझने में सहायता प्राप्त होती है। इन सिद्धांतों की सहायता से प्रायः अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वान एवं विभिन्न राष्ट्रों के राजनयिक अंतरराष्ट्रीय मुद्दों और समस्याओं के संदर्भ में मार्गदर्शन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बदलते वैश्विक परिदृश्य के साथ विभिन्न सिद्धांतों का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी और आदर्शवादी सिद्धांत सबसे प्रमुख और पूर्ण सिद्धांत माने जाते है, इनके द्वारा अंतरराष्ट्रीय राजनीति और संबंधों का समग्रता से विश्लेषण किया गया है जबकि अन्य दूसरे सिद्धांत जैसे व्यवस्था सिद्धांत, संचार , निर्णय निर्माण और खेल इत्यादि सिद्धांत आंशिक सिद्धांत माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने अंतरराष्ट्रीय राजनीति का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत नही किया है। इनमें कुछ प्रमुख अंतरराष्ट्रीय सिद्धांतों की हम नीचे चर्चा करेंगे।

1.4.1 यथार्थवाद

यथार्थवादी सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली सिद्धांत माना जाता है, जिसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या शक्ति और संघर्ष के परिप्रेक्ष्य

टिप्पणी

में की है। इस सिद्धांत का विकास आदर्शवादी सिद्धांत की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ। हालांकि, यथार्थवादी सिद्धांत की जड़ें प्राचीन राजनीतिक दार्शनिकों के लेखन में भी दिखाई देती है। प्राचीन यूनानी विचारक थ्यूसिडाइड्स की रचना "द पेलोपोनेसिअन वॉर" जिसका पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व में पेलोपोनेसियन युद्ध का विश्लेषण एथेंस और स्पार्टा नगर–राज्यों के बीच बदलती शक्ति की गतिशीलता पर केंद्रित था। सोलहवीं शताब्दी में इटली के प्रमुख राजनितिक विचारक मैकियावली की "द प्रिन्स" नैतिकता के बजाय शक्ति के अभ्यास पर जोर देते वास्तविक राजनीति का परिचय देती है। इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी राजनितिक दार्शनिक थॉमस हॉब्स की "लेवयाथन" ने मानवीय स्वाभाव को बुरा, स्वार्थी और आक्रामक बताते हुए अराजकतापूर्ण स्थिति विश्लेषण किया जो बाद के यथार्थवादियों के लिए अंतरराष्ट्रीय राजनीति का मूल लक्षण थे। भारतीय राजनितिक चिंतक कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में भी यथार्थवादी चिंतन के बीज दिखाई देते हैं जिसमें शासन–कला और राजनय का विस्तृत विवरण देखने को मिलता है। इन सभी विचारकों नें राष्ट्रीय और विश्व राजनीति में शक्ति, संघर्ष और युद्ध को इसके अभिन्न अंग के रूप में चित्रित किया है।

यथार्थवादी चिंतन के इसी दृष्टिकोण को बीसवीं शताब्दी में ई. एच. कार, एच. जे. स्पाइकमैन, रॉइनॉल्ड नीबर, हॉन्स जे. मार्गेथाऊ, जॉर्ज कैनन, और केनेथ वाल्ट्ज इत्यादि ने इस सिद्धांत को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में पुनः स्थापित और विकसित करने का कार्य किया। इन यथार्थवादी चिंतकों के अनुसार सभी राष्ट्रों का अंतिम लक्ष्य अराजकतापूर्ण वातावरण में अपनी सुरक्षा है। अतः राष्ट्रों की नीतियां आमतौर पर राष्ट्रीय सुरक्षा को बनाये रखने के लिए वास्तविक शक्ति की गिनती से निर्धारित होती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के बीच जो भी गठजोड़ या संधियां की जाती है या उन्हें ख़त्म कर नए राज्यों को मित्र या शत्रु बनाया जाता है, ये सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित पर निर्भर करता है। यथार्थवादी विचारकों ने द्वितीय– विश्व युद्ध से सबक सीखने का दावा किया है, अर्थात्, भविष्य के युद्धों को रोकने का तरीका औपचारिक–कानूनी संस्थानों या नैतिक उपदेशों पर भरोसा करना नहीं है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक "शक्ति संतुलन" कायम करने से संभव होगा।

यथार्थवादी सिद्धांत की मुख्य मान्यताएं

- यथार्थवादी सिद्धांत की पहली मान्यता यह है की राष्ट्र–राज्य (संक्षिप्त में राज्य) अंतरराष्ट्रीय राजनीति में प्रधान और एकमात्र अभिकर्ता हैं। अन्य अभिकर्ता चाहे वह व्यक्ति, संस्था, अंतरराष्ट्रीय या गैर–सरकारी संगठन हों, उनकी शक्ति राज्यों की तुलना में सीमित है।
- अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना अराजक है, अर्थात राज्यों या सरकारों के ऊपर कोई संप्रभुता प्राधिकरण या सत्ता नहीं है। यह अराजकता अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था प्रत्येक राज्य को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए स्वयं पर भरोसा करने के लिए मजबूर करती है।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के लिए जारी संघर्ष में, प्रत्येक राष्ट्र–राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का अनुसरण करता है। राष्ट्रीय सुरक्षा एवं राज्य का अस्तित्व राज्यों के प्रमुख राष्ट्रीय हित हैं, जिन्हें प्रत्येक राष्ट्र–राज्य अपनी विदेश–नीति के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करता है।

टिप्पणी

- प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हित की प्राप्ति अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा करने का प्रयास करता है।
- राष्ट्रीय शक्ति और क्षमता ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के बीच संबंधों को निर्धारित करते हैं।

यथार्थवादी सिद्धांतों की व्याख्या विभिन्न विद्वानों द्वारा की गयी किंतु उनमें हॉन्स जे. मार्गेथाऊ का नाम सबसे प्रमुख है। उन्होंने अपनी रचना "पॉलिटिक्स एमंग नेशनः द स्ट्रगल फॉर पावर एंड पीस" में यथार्थवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। मार्गेथाऊ के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो इसका तत्कालीन उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना ही होता है। प्रत्येक राष्ट्र–राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति शक्ति के माध्यम से करना चाहता है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रों के बीच शक्ति संघर्ष जन्म लेता है जो अंतरराष्ट्रीय राजनीति का केंद्र–बिंदु है। उनके अनुसार शक्ति संघर्ष राष्ट्र–राज्यों के बीच संबंधों की शाश्वत और अपरिवर्तनशील विशेषता है। अर्थात, राष्ट्रीय शक्ति और क्षमता ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के बीच संबंधों को निर्धारित करते है।

इस प्रकार मार्गेथाऊ अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में शक्ति दृष्टिकोण को अपनाते है और अपना सारा ध्यान राष्ट्रीय शक्ति पर केंद्रित करते हैं। मार्गेथाऊ ने अपने छः आधारभूत सिद्धांतों के आधार पर यथार्थवाद की व्याख्या की है। राष्ट्रीय शक्ति और क्षमता ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के बीच संबंधों को निर्धारित करते है। इससे संबंधित महत्वपूर्ण बातें निम्नांकित हैं–

1. मार्गेथाऊ के अनुसार राजनीति भी समाज की तरह उन नियमों के द्वारा संचालित होती है जिनकी जड़ें मानव स्वभाव में निहित है। मानव स्वभाव स्वार्थी, आत्म–केंद्रित और प्रभुत्व की आकांक्षा रखने वाला होता है। मानव की यह प्रकृति शाश्वत और अपरिवर्तित रही है।
2. राष्ट्रीय हित अंतरराष्ट्रीय राजनीति का मुख्य तत्व है जिसे वह शक्ति के संदर्भ में परिभाषित करता है। शक्ति के रूप में परिभाषित हित राजनीति के कारणों तथा समझने योग्य तथ्यों के मध्य संबंध स्थापित करते हैं।
3. राष्ट्रीय हित सदैव परिवर्तनीय हैं। अलग–अलग राज्यों के हित समय–समय पर भिन्न हो सकते हैं। देश–काल, परिस्थिति राष्ट्रीय–हितों को निर्धारित करती हैं। अतः इनका निरंतर मूल्यांकन किये जाते रहना चाहिए।
4. सार्वभौमिक नैतिकता के नियम राजनीति में लागू नहीं किये जा सकते हैं। क्योंकि मार्गेथाऊ व्यक्तिगत नैतिकता और राज्य नैतिकता को अलग–अलग मानते हैं। उनके अनुसार विवेक का राजनीति में सर्वोच्च स्थान है। विवेक के बिना राजनीतिक नैतिकता संभव नहीं है।
5. मार्गेथाऊ का यथार्थवादी सिद्धांत इस बात पर विशेष बल देता है की एक राष्ट्र विशेष की नैतिक आकांक्षाओं तथा सार्वभौमिक नैतिक नियम में अंतर होता है। वह यह भी स्वीकार नहीं करता है कि किसी राज्य के राष्ट्रीय हित या नीतियां सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों का ही प्रतिबिंब होती हैं।

टिप्पणी

6. राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता बनाये रखता है। एक राजनीतिक यथार्थवादी सदैव अपने हितों को शक्ति रूप में परिभाषित हितों के रूप में सोचता है। जैसे एक अर्थशास्त्री अपने हितों को आर्थिक लाभ के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करता है।

इस प्रकार मार्गेथाऊ की यथार्थवादी अवधारणा नैतिकता के स्थान पर शक्ति को महत्व देती है। और नीति निर्धारण से नैतिकता को अलग रखने की बात पर जोर देती है। 1960–70 के दशक में यथार्थवादी सिद्धांत बहुत लोकप्रिय रहा किंतु व्यवहारवाद के आने के बाद इसका प्रभाव कम होने लगा। इसके साथ ही वैश्विक परिवर्तनों जैसे क्षेत्रीय और आर्थिक सहयोग संगठनों का उदय, यूरोपियन यूनियन का विस्तार, और शीत युद्ध का अंत की ओर अग्रसर होना इत्यादि घटनाओं ने यथार्थवादी सिद्धांत के प्रभाव को विश्व राजनीति में कम करने का कार्य किया। इसके साथ ही यथार्थवाद में नवीन प्रवृत्तियों का और सिद्धांतों का जन्म हुआ जो इसे नव यथार्थवाद की ओर ले गया।

नव–यथार्थवाद के प्रमुख प्रतिपादक केनेथ वाल्ट्ज़ है। नव–यथार्थवादी शास्त्रीय यथार्थवाद की इस मान्यता पर कायम रहते हैं कि राष्ट्र–राज्य ही प्राथमिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में प्रमुख कर्ता है जिनकी अंतः क्रिया पर विश्व राजनीति का निर्धारण होता है और अंतरराष्ट्रीय राजनीति स्वाभाविक रूप से राष्ट्रों के मध्य संघर्ष है। किंतु वे इसका आधार मानव स्वभाव की आंतरिक बुराइयों पर नहीं बल्कि अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की अराजकता संरचना पर आधारित मानते हैं। अतः इस संरचना के आधार पर ही नव यथार्थवादयों ने राष्ट्र–राज्य के व्यवहार का विश्लेषण किया है।

नव–यथार्थवाद ने यह स्वीकार किया है कि राष्ट्रों के मध्य सहयोग संभव है लेकिन वह इस पर जोर देते हैं कि उच्च राजनीति के मुद्दे जैसे रक्षा, शस्त्र नियंत्रण की तुलना में कम राजनीति के मुद्दों में सहयोग की अधिक गुंजाइश है। नवयथार्थवाद भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति को कानून और नैतिकता पर आधारित ना मानकर राष्ट्रीय हित पर आधारित माना है।

नव–यथार्थवाद

नवयथार्थवादी सिद्धांत जिसे संरचनात्मक यथार्थवाद के नाम से भी जाना जाता है, का उदय 1970 के दशक में यथार्थवाद में कुछ नवीन प्रवृतियों के जुड़ने के साथ हुआ।इसके प्रमुख प्रतिपादक केनेथ वाल्ट्ज़ हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तक "थ्योरी ऑफ़ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स" 1979 में यथार्थवाद को अंतरराष्ट्रीय संरचना के साथ जोड़ने का प्रयास किया। उनके अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति की संरचना अराजकतापूर्ण है। जहां एक शक्तिशाली राज्य दूसरे राज्य को अपनी शक्ति बढ़ने से रोकने के प्रयत्न में लगा रहता है। अराजकता से नव–यथार्थवादियों का तात्पर्य एक केंद्रीय या अंतरराष्ट्रीय संस्था के अभाव से है, जो की राष्ट्र–राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित कर सके। नव–यथार्थवादियों के लिए व्यवस्था की संरचना और इसकी शक्ति का सापेक्ष वितरण विश्लेषण का केंद्र बिंदु है।

यथार्थवादी सिद्धांत और मार्गेथाऊ के यथार्थवादी चिंतन की विभिन्न अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा आलोचना की गई है। इस आलोचना का आधार यह रहा

टिप्पणी

है कि, इसमें शक्ति राजनीति, संघर्ष और राष्ट्रीय हित पर बहुत जोर दिया गया है। आलोचकों का मानना है कि राष्ट्रों के बीच राष्ट्रीय हित के लिए संघर्ष पर जोर देने के क्रम में शांति, सहयोग और नैतिकता जैसे विचारों की पूर्णता उपेक्षा की गई है। यथार्थवादी सिद्धांत युद्ध के कारणों का पता लगाने में तो सक्षम है, किंतु राष्ट्रों के मध्य सौहार्दपूर्ण संबंधों की व्याख्या में सक्षम नहीं है। इसके अतिरिक्त यथार्थवादियों ने जो मानव स्वभाव का निराशावादी प्रस्तुत किया है और जिसे वह अंतरराष्ट्रीय संबंधों का आधार मानते हैं, उसके बारे में आलोचकों का यह मत है कि यह वास्तविक व तार्किक नहीं है। यह मानव स्वभाव के प्रेम और स्नेह जैसी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अमान्य कर देता है। बहुलवादी सिद्धांतकारियों ने यथार्थवाद की आलोचना इस आधार पर की है कि यथार्थवादियों द्वारा राष्ट्र राज्य को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एकमात्र कर्ता के रूप में स्वीकार करना सही नहीं है। क्योंकि राज्यों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण गैर–राज्यकर्ता जैसे– बहुराष्ट्रीय निगम और अंतरराष्ट्रीय संगठन इत्यादि भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति को संचालित और प्रभावित कर रहे हैं। इनकी भूमिका को यथार्थवादी चिंतकों ने अपने चिंतन में पुण्य नगण्य कर दिया है।

1.4.2 आदर्शवाद एवं विश्व राज्य–संकल्पना

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादी सिद्धांत एक प्रमुख सिद्धांत है, जिसका विकास प्रथम विश्वयुद्ध के विनाशकारी परिणामों के फलस्वरूप हुआ था। यह मानव स्वभाव और मानव प्रगति के सकारात्मक और आशावादी पक्ष को प्रस्तुत करता है। आदर्शवादी सिद्धांत यथार्थवाद से पूर्णतः विरोधी विचार रखते हुए युद्ध, शक्ति राजनीति और अनैतिकता से मुक्त विश्व की तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह सिद्धांत शक्ति को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में केवल एक अस्थायी तत्व मानते हुए नैतिक मूल्यों और क़ानूनी मानदंडों के परिप्रेक्ष्य में अंतरराष्ट्रीय राजनीति को देखने का प्रयत्न करता है।

आदर्शवाद की झलक प्राचीन राजनीतिक दार्शनिकों जैसे प्लेटो, थॉमस एक्विनास, इमैनुअल कांट, लॉक और रूसो आदि के चिंतन में दिखाई देती है जिन्होंने नैतिकता, न्याय, तर्क, सहयोग और शांति पर आधारित विश्व राजनीति की कल्पना की थी। आदर्शवादी चिंतन की जड़ें चौदहवीं सदी के इतालवी कवि दांते के लेखन में भी दिखाई देती हैं, जिन्होंने मनुष्य की सार्वभौमिकता के बारे में लिखा और यूरोप के एकीकरण की वकालत की। इसी प्रकार आदर्शवादी परंपरा में डच न्यायविद ह्यूगो ग्रोशियस भी शामिल हैं, जिन्हें अंतरराष्ट्रीय कानून का जनक माना जाता है। 1625 में इनके द्वारा लिखित "ऑन द लॉज़ ऑफ़ वॉर एंड पीस", नियमों का एक निकाय प्रस्तुत करता है, जिसे संप्रभुता राज्यों द्वारा दृढ़ता से पालन करने के लिए राजी किया जा सकता है।

आदर्शवादी सिद्धांत का सर्वाधिक प्रभावशाली रूप उदारवादी दृष्टिकोण में देखा जा सकता है। कौण्डरसेट, सेंट साइमन, महात्मा गांधी और वुडरो विल्सन प्रमुख आदर्शवादी माने जाते हैं। कॉन्डरसेट को आदर्शवादी सिद्धांत का प्रथम प्रमुख चिंतक माना जाता है। कॉन्डरसेट ने अपनी रचना "स्केच फॉर ए हिस्टोरिकल पिक्चर ऑफ़ दि प्रोग्रेस ऑफ़ दि ह्यूमन स्पिरिट (1795) में एक ऐसे विश्व की कल्पना की है जो संघर्ष, अराजकता और युद्ध से सर्वथा मुक्त हो, तथा नैतिकता, विवेक, ज्ञान और विज्ञान से मानव समाज की प्रगति का रास्ता तय हो सके।

टिप्पणी

आदर्शवादी सिद्धांत की प्रमुख मान्यताएं

- मानव स्वभाव स्वाभाविक रूप से अच्छा है, इसलिए एक व्यक्ति दूसरे की सहायता और परोपकारी कार्य करता है। मानव की यह मूल प्रवृत्ति ही विकास को संभव बनती है।
- मानव के बुरे व्यवहार का प्रदर्शन उसके चारों ओर के वातावरण, परिस्थितियों और संस्थाओं की कमियों का परिणाम होता है।
- युद्ध अंतरराष्ट्रीय राजनीति का सबसे बुरा लक्षण है। ऐसी अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था जो युद्ध को बढ़ावा देती है, उन्हें समाप्त करके युद्ध को ख़त्म किया जा सकता है।
- युद्ध एक अंतरराष्ट्रीय समस्या है, जिन्हे सामूहिक प्रयासों के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। अतः युद्ध को समाप्त करने के लिए अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का पुनर्गठन और सुधार करने की आवश्यकता है।

आदर्शवादी सिद्धांत मानवीय तार्किक क्षमता पर विश्वास करता है और एक ऐसे विश्व की परिकल्पना करता है, जो भविष्य में मानव के रहने के लिए एक बेहतर स्थान साबित हो। यह एक ऐसे विश्व राज्य की संकल्पना करता है, नैतिक मूल्यों, शिक्षा, दर्शन और लोकतंत्र पर आधारित हो। इसलिए वुडरो विल्सन जैसे आदर्शवादियों ने अंतरराष्ट्रीय संगठन और लोकतंत्र के प्रसार पर जोर दिया। इस विचार के पीछे उनकी यह मान्यता थी कि ऐसे संगठन, राष्ट्र–राज्यों के मध्य संबंधों को दृढ़ और स्थायी करेंगे तथा युद्ध और संघर्षों से मुक्ति दिलाकर विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त करेंगे। आदर्शवादियों ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के कानूनी–औपचारिक पहलुओं, जैसे अंतरराष्ट्रीय कानून और अंतरराष्ट्रीय संगठनों, और लोकतंत्र और मानवाधिकारों जैसे नैतिक चिंताओं पर ध्यान केंद्रित करने का तर्क दिया।

आदर्शवाद सार्वभौमिक नैतिकता को बढ़ावा देता है ताकि 'एक विश्व' की संकल्पना को स्थापित किया जा सके। उनका मानना था कि कानून के सम्मान, साझा सार्वभौमिक मूल्यों की स्वीकृति और राष्ट्र संघ जैसे अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के विकास के आधार पर एक नए विश्व व्यवस्था का निर्माण किया जाना संभव है। आदर्शवादी सिद्धांतकारों का यह दृढ़ विश्वास है की अधिकतर राष्ट्र हमेशा शांति और सद्भाव प्राप्त करने के लिए इच्छुक होते हैं न की युद्ध और संघर्ष का विकल्प चुनते हैं। किन्तु 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत ने आदर्शवादी सिद्धांत को बहुत आघात किया जिससे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद की लोकप्रियता बढ़ने लगी।

नव–आदर्शवाद

नव–आदर्शवादी सिद्धांत का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देखा जा सकता है जिसने एक बार फिर से अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता के व्यावहारिक मूल्य पर जोर दिया। यह महाशक्तियों की राजनीति में शक्ति राजनीति से मोह भंग को दर्शाता है। नव–आदर्शवादी सिद्धांतकारों ने मानवाधिकारों और राष्ट्रीय–निर्भरता के परिप्रेक्ष्य में अंतरराष्ट्रीय नैतिकता की बात की और 'एक विश्व' की धारणा को उन्नत करने का प्रयास किया। इन्होने वैश्विक राजनीति के लोकतंत्रीकरण के साथ 'संप्रभुता राज्य ' की अवधारणा को अप्रत्यक्ष रूप से ख़ारिज किया।

टिप्पणी

आदर्शवादी सिद्धांत की सर्वाधिक आलोचना यथार्थवादियों द्वारा इसे 'अव्यवहारिक' और 'कल्पनावादी' सिद्धांत कहकर की जाती है। यथार्थवादियों के अनुसार राजनीति में नैतिकता का महत्व बहुत कम है। किन्तु आदर्शवादियों ने नैतिकता के महत्व को सर्वोपरी करते हुए शक्ति के भूमिका को बिलकुल नजरअंदाज किया, जो राष्ट्र–संघ की विफलता और द्वितीय–विश्वयुद्ध जैसे वैश्विक घटनाओं में दिखायी देता है।

1.4.3 मार्क्सवाद

आदर्शवादी और यथार्थवादी सिद्धांत के विपरीत मार्क्सवादी सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति का एक बिल्कुल अलग परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण प्रस्तुत करता है जो परंपरागत राजनीतिक प्रतिमानों के साथ मेल नहीं खाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत आर्थिक शक्ति और अंतरराष्ट्रीय पूंजी द्वारा निभाई गयी भूमिका पर अपना विश्लेषण केंद्रित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार विश्व में घटित होने वाली कोई भी घटना आर्थिक कारणों के फलस्वरूप ही घटित होती है।

मार्क्सवादी सिद्धांत की मूल मान्यताएं–

मार्क्सवादी सिद्धांत की मूल मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

- मार्क्सवाद आर्थिक कारकों के आधार पर अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण करने का प्रयास करता है।
- मार्क्सवादी सिद्धांत के विश्लेषण की इकाई राष्ट्र–राज्य नहीं, बल्कि वर्ग हैं। इन्हें वे पूंजीवादी वर्ग (बुर्जुआ) और शोषित वर्ग (सर्वहारा) में विभक्त करते हैं । विश्व इतिहास इन दोनों वर्गों के संघर्ष का इतिहास रहा है।
- मार्क्सवादियों का मानना है की बिना आर्थिक कारकों के विश्लेषण के अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण संभव नहीं।
- मार्क्सवादी चिंतकों के लिए साम्राज्यवाद और पूंजीवाद एक सिक्के के दो पहलु हैं।
- वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति में पूंजीवादी राष्ट्रों का प्रभुत्व है जो कमजोर राष्ट्रों का शोषण कर रहे हैं ।
- ये एक समतामूलक विश्व की स्थापना पर जोर देते हैं जहां आर्थिक रूप से कमजोर राष्ट्रों का शोषण समाप्त हो।

उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई जिसकी वजह से औद्योगिक देशों में पूंजी के नियंत्रण और स्वामित्व में भी एक परिवर्तन देखने को मिला। आर्थिक क्षेत्र में इन परिवर्तनों ने पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच की असमानता को और भी बढ़ा दिया। औद्योगिकीकरण के कारण बढती असमानता के परिणामस्वरूप कार्ल मार्क्स और फ्रेडेरिक ऐंजेल्स जैसे विचारकों ने "मैनिफेस्टो ऑफ़ कम्युनिस्ट पार्टी" (1848) और "दास कैपिटल"(1867) अपने विचार रखे जिसे मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है। इन विचारों को बाद में व्लादिमीर लेनिन, जोसेफ स्टालिन, अंटोनिओ ग्राम्सी, निकोलाई बुखरीन और माओ ने आगे बढ़ाया। ये भी ध्यान देने योग्य है की कार्ल मार्क्स ने स्वयं कोई विशिष्ट सिद्धांत विकसित नहीं किया। बाद के विद्वानों

टिप्पणी

ने उनके चिंतन के आधार पर मार्क्सवादी सिद्धांत और उससे जुड़े सिद्धांतों का विकास किया।

मार्क्सवाद के अनुसार विश्व इतिहास में कोई भी परिवर्तन किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास में बदलाव से प्रेरित होता है। मार्क्सवादियों नें इतिहास को वर्ग संघर्ष द्वारा चित्रित किया है, जो पूंजीवादी (जिसे मार्क्स ने बुर्जुआ कहा) और श्रमिक (जिसे मार्क्स ने सर्वहारा कहा) के बीच होता है। मार्क्स के अनुसार समाज में दो कारक– उत्पादन के साधन और उत्पादन संबंध, ये दोनों ही तनाव उत्पन्न करते हैं और समाज के इतिहास को निर्धारित करते हैं। जैसे –जैसे समाज आगे बढ़ता है, समाज में उत्पादन के साधन भी परिवर्तित हो जाते है। उत्पादन के पारंपरिक तरीके पुराने हो जाते हैं, जिससे समाज पर एक तरह का दबाव पड़ता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत जो सामाजिक वर्गों का सूक्ष्म विश्लेषण करता है, का उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की पूंजीवादी संरचना को समाप्त करना है। क्योंकि इनके अनुसार आधुनिक विश्व में पूंजीवाद व्यावहारिक रूप से स्थायी नहीं है। मार्क्सवादी सिद्धांतकारों का मानना है की निजी संपत्ति को निजी लाभ उत्पन्न करने के बजाय उपभोग की मानवीय जरूरतों को पूरा करने पर जोर देने के साथ सहकारी स्वामित्व द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। एक आदर्श अंतरराष्ट्रीय शासन के तहत राष्ट्र यह सुनिश्चित करने के लिए एक साथ काम करें की बुनियादी मानवीय जरूरतों को वैश्विक स्तर पर पूरा किया जा सके। शीत युद्ध के दौरान मार्क्सवाद का एक प्रमुख सिद्धांत था जिसने चीन, क्यूबा और वियतनाम जैसे देशों में समाजवादी क्रांतियों को प्रेरित किया।

मार्क्सवादी सिद्धांतकार ये मानते हैं की अंतरराष्ट्रीय राजनीति केवल राज्यों की विदेश नीति या राजनेताओं के व्यवहार के बारे में नहीं है, बल्कि यह उत्तरजीविका, तकनीकी, उत्पादन और श्रम के बारे में भी है। अतः मार्क्सवादियों का मुख्य ध्यान राज्य और राज्य व्यवस्था की प्रकृति के स्थान पर पूंजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था के साथ इसके संबंधों पे रहा है। इसलिए यह अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था (IPE) से जुड़ा हुआ है। यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति की एक शाखा, जो दुनिया की राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों के बीच संबंधों की जांच करती है। इन्होने यथार्थवादियों की भांति राज्य या राज्य–व्यवस्था को अपने प्रारंभिक अध्ययन का आधार नहीं बनाया और ना ही युद्ध और शांति के प्रश्नों को उठाया। इन्होंने उदारवादियों या आदर्शवादियों की तरह एक अधिक शांतिपूर्ण दुनिया का निर्माण कैसे किया जाए पर अपने को केंद्रित नहीं किया, बल्कि इन्होंने संघर्ष के भौतिक और ऐतिहासिक पहलुओं का विश्लेषण किया। मार्क्सवादियों के विश्लेषण का मुख्य प्रश्न है कि कैसे सर्वहारा वर्ग के लिए शोषण से मुक्ति प्राप्त कर वर्ग संघर्ष को समाप्त किया जाए।

मार्क्सवादियों का तर्क है कि धन के अनुचित वितरण पर आधारित एक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था अस्थिर साबित होगी, क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग (शोषित वर्ग) को उस व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए प्रोत्साहित करेगा जो उनकी इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। मार्क्सवाद का लक्ष्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें न्याय पूंजी के उचित वितरण को निर्धारित करता है, जिससे एक ऐसे समाज का निर्माण

होता है जिसमें सभी व्यक्ति, अंतरराष्ट्रीय पूंजीवादी व्यवस्था में अपनी स्थिति के अनुसार वर्तमान में दिए गए फायदे या नुकसान के बिना अपनी क्षमता को प्राप्त कर सकते हैं।

टिप्पणी

नव–मार्क्सवाद

नव–मार्क्सवाद बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद की विभिन्न धाराओं और दृष्टिकोणों को निरूपित करने वाला एक शब्द है, जो मार्क्सवाद और मार्क्सवादी सिद्धांतों को संशोधित और विस्तारित करता है। मार्क्सवाद कार्ल मार्क्स के लेखन पर आधारित है जिसके अनुसार समाज अर्थव्यवस्था से निर्धारित होता है और यह एक संघर्ष आधारित परिप्रेक्ष्य है। जबकि नव–मार्क्सवाद बीसवीं सदी के परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए केवल आर्थिक वर्गों के बजाय, विचारों, चेतना और संस्कृति की भूमिका पर भी विचार किया है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यह अपना ध्यान एक वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था और उसके अभीकर्ताओं की विविधता पर केंद्रित करता है। उनके अनुसार उत्पादन और विनिमय की वैश्विक संरचना कोर और परिधीय (उत्तर– दक्षिण देशों) क्षेत्रों में विभाजित है। नव–मार्क्सवाद की कई अलग–अलग शाखाएं हैं जिनमें प्रायः एक दूसरे से या उनके सिद्धांतों में आपस में सहमति नहीं दिखाई देती है।

इस प्रकार मार्क्सवादी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उदारवाद या यथार्थवाद की तुलना में अंतरराष्ट्रीय राजनीति से सम्बंधित अपना एक बिलकुल अलग विश्लेषण को संबोधित करता है। राजनीतिक क्षेत्र में मानवीय सहभागिता पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय, जो शासन और सरकार के सवालों से निपटता है, मार्क्सवाद आर्थिक क्षेत्र में बातचीत को प्राथमिकता देता है। इसलिए जहां यथार्थवादी सिद्धांतकार मार्क्सवाद के अंतरराष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्थित योगदान को अस्वीकार करते हैं। वही उदारवादी सिद्धांतकार ने सोवियत–संघ के विघटन के साथ मार्क्सवादी सिद्धांत के अप्रासंगिक होने की घोषणा कर दी। उनके अनुसार अब साम्यवादी देशों ने भी उदारवाद के पूंजीवादी मूल्यों और लोकतंत्र के सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया है तथा वर्तमान विश्व–व्यवस्था पूंजीवाद उदारवादी–लोकतान्त्रिक विचारों पर आधारित है। अतः वर्तमान में मार्क्सवादी मूल्यों और सिद्धांतों का अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कोई महत्व नहीं रह गया है। किन्तु वास्तव में अगर हम देखें तो भले ही आज विश्व के अधिकतर देशों ने उदारवाद के लोकतान्त्रिक और पूंजीवादी व्यवस्था के सिद्धांतों को किसी न किसी रूप में अपना लिया है लेकिन इससे मार्क्सवादी सिद्धांत के मूल दर्शन समतामूलक विश्व और शोषणकरी व्यवस्था के अंत जैसे विचार विश्व राजनीति के लिए सदैव प्रासंगिक बने हुए है।

1.4.4 बहुलवाद

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के बहुलवादी सिद्धांत का उदय 1960 और 1970 के दशक में हुआ। यह सिद्धांत मूलतः उदारवादी विचारों, तर्कों और मूल्यों पर आधारित है। बहुलवादी सिद्धांत के कुछ प्रमुख प्रतिपादक जॉन बर्टन, डी. निकोल्स, एस हॉफमैन और ओ. आर. यंग हैं। बहुलवादी सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कई प्रतिस्पर्धी निकायों या समूहों के बीच शक्ति के प्रसार पर जोर देता है। अर्थात, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के अतिरिक्त अन्य संगठन, संस्थान, व्यक्ति और समूह भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार बहुलवादियों ने राज्यों की अभिकर्ता के रूप में भूमिका को चुनौती

देते हुए गैर–राज्य अभिकर्ताओं के अंतरराष्ट्रीय राजनीति में योगदान को भी महत्वपूर्ण माना।

बहुलवादी सिद्धांत की मुख्य मान्यतायें –

टिप्पणी

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति बहुत सारे हितों, समूहों और संगठन से निर्धारित होती है।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्य ही एकमात्र अभिकर्ता नहीं हैं बल्कि गैर–राज्य अभिकर्ताओं जैसे संयुक्त राष्ट्र संगठन, एमेनेस्टी इंटरनेशनल और बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है।
- बहुलवादी राष्ट्रों के मध्य बढ़ते अन्योन्याश्रित संबंधों, सहकारिता और एकीकरण पर बल देते हैं।
- बहुलवादियों ने यथार्थवादियों के शक्ति, सैन्य और संघर्ष जैसे राजनीतिक मुद्दों की अपेक्षा गैर राजनीतिक मुद्दों जैसे पर्यावरण, मानवाधिकार, प्राकृतिक संसाधन, आर्थिक अंतर–निर्भरता इत्यादि को प्राथमिकता दी हैं।

अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में परिवर्तन के साथ साथ नए मुद्दों के उदय ने विश्व व्यवस्था की पारंपरिक छवि को चुनौती प्रदान की है। जिसकी वजह से नवीन प्रवृत्तियों संगठनों और समूहों का प्रादुर्भाव देखा जा सकता है। इन सभी ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अभिनेता के रूप में राज्य के एकाधिकार को कम करने का कार्य किया है। आधुनिक समाज में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों के लिए बहुत सारी शक्तियां और संगठन अस्तित्व में है। यह राज्यों के साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं, इनमें से कुछ गैर–राज्य अभिकर्ता वैश्विक स्तर पर राज्यों की सीमाओं से बाहर भी अपनी भूमिका निभा रहे हैं। यह गैर–राज्यकर्ता अंतरराष्ट्रीय सहयोग और सद्भाव को हासिल करने में सहायता करते हैं। अतः बहुलवादी सिद्धांतकारों का मानना है कि इन गैर–राज्य अभिकर्ता की भूमिका को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उचित मान्यता और महत्व दिया जाना चाहिए, तभी राज्य–प्रधान अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के खतरों को कम किया जा सकेगा।

हेवुड के अनुसार बहुलतावादी दृष्टिकोण एक मिश्रित–अभिकर्ता प्रतिमान प्रस्तुत करता है, जो राष्ट्रीय सरकारों की अनदेखी नहीं करते हुए, इस बात पर जोर देते हैं कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति बहुत सारे हितों और समूहों के द्वारा निर्धारित होती है। बहुलवादियों ने बाह्य संप्रभुता पर जोर दिया जो कि यथार्थवाद के लिए केंद्रीय है, इस दृष्टिकोण को, स्वायत्तता की धारणा द्वारा प्रतिस्थापित किया जाने की बात कही ।

इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बहुलवादी दृष्टिकोण का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि यह शक्ति की राजनीति और राष्ट्रीय उग्रवाद से दूर बदलाव पर प्रकाश डालता है। बहुलवादियों के अनुसार जब शक्ति व्यापक रूप से वितरित की जाती है, तो प्रतियोगिता कम हो जाती है। नतीजतन, बहुलतावादियों का तर्क है कि बढ़ते हुए अन्योन्याश्रित विश्व में, सहयोग और एकीकरण की प्रवृत्ति अंततः अप्रतिरोध्य साबित होगी।

बहुलवाद की सर्वाधिक आलोचना यथार्थवादी और नवयथार्थवादी सिद्धांतकारों द्वारा की गयी है। वे बहुलवादियों के इस तर्क को अस्वीकार करते हैं, की गैर–राज्य अभिकर्ता अंतरराष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके अनुसार

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र–राज्यों के बीच की राजनीति है, गैर राज्यकर्ता अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। वे महत्व प्राप्त करते हैं, क्योंकि राष्ट्र–राज्य अपने हितों की पूर्ति के लिए इनका उपयोग करते हैं। इसके अलावा बहुलवादी अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषण में अराजकता और सुरक्षा जैसी चिंताओं की भूमिका को कम कर देते हैं जिसकी यथार्थवादियों द्वारा यह कह कर आलोचना की गई है की बहुलवादियों द्वारा अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण इन पक्षों को सम्मिलित किए बिना अधूरा है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का कोई भी विश्लेषण तब तक नहीं पूरा हो सकता जब तक कि अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के राज्य और शक्ति राजनीति के महत्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

1.4.5 निर्णय–निर्माण सिद्धांत

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का निर्णय–निर्माण सिद्धांत राष्ट्र–राज्यों की नीतियों के लिए निर्णय लेने के विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण पर अपना ध्यान केंद्रित करता है तथा राष्ट्रों की विदेश नीति के निर्णय संबंधी पहलुओं का विश्लेषण करके राष्ट्रों के बीच के संबंधों का अध्ययन करता है। रिचर्ड स्नाइडर, बर्टन सापिन, एच्. डब्लू बर्क, मार्गेट स्प्राउट, डीन रस्क, और जेम्स मार्च इत्यादि सिद्धांतकारों का निर्णय निर्माण सिद्धांत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह सिद्धांत संपूर्ण विश्लेषण इस प्रश्न के आधार पर करता है कि निर्णयकर्ता अंतरराष्ट्रीय राजनीति में जो व्यवहार करते हैं वह कैसे और क्यों करते हैं। इस सिद्धांत के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु निम्नलिखित हैं–

- निर्णयकर्ताओं के द्वारा लिए गए विदेश नीति के निर्णय ऊपर ध्यान केंद्रित करना।
- अंतरराष्ट्रीय राजनीति के बारे में निर्णय कर्ताओं के दृष्टिकोण पर बल देना।
- निर्णयकर्ताओं की कार्यवाहियों के द्वारा राज्य की क्रियाओं का अध्ययन करना।
- निर्णय–निर्माण प्रक्रिया के द्वारा राज्यों की कार्यवाही के कारणों को जानने का प्रयत्न करना।

रिचर्ड स्नाइडर उस तरीके से बात करते हैं जिस तरह से निर्णय लेने वाले विश्व को समझने का प्रयत्न करते हैं। वह इसे निर्णय निर्माण को एक प्रक्रिया के रूप में देखते हुए इसके तीन तत्व बताते है : पहला क्षमता का क्षेत्र, दूसरा, संचार और सूचना और तीसरा, प्रेरणा। इसी प्रकार निर्णय लेने को अंत के रूप में देखने के बजाय, बर्टन इसे एक प्रक्रिया के रूप में देखतें हैं। इस प्रक्रिया में शामिल कारक इस बात से संबंधित हैं कि निर्णयकर्ता किसी विशेष निर्णय पर कैसे पहुंचता है। बर्टन ने ऐसे तीन कारकों की पहचान की है। ये धारणा, अपेक्षा और सूचना अधिभार हैं।

निर्णय–निर्माण सिद्धांत हमें राजनीतिक व्यवस्था में उन महत्वपूर्ण संरचनाओं की पहचान करने में मदद करता है, जहां निर्णय लिए जाते हैं और कार्यवाही यों का सूत्रपात और पूर्ति की जाती है। कई औपचारिक और अनौपचारिक संरचनाएं होती हैं जो निर्णय निर्माण में अपनी भूमिका अदा करती हैं। इसके अतिरिक्त निर्णयकर्ता के व्यवहार का व्यवस्थित विश्लेषण किया जाता है, जिसकी परिणति कार्यवाही के रूप में होती है। इस व्यवस्थित विश्लेषण से अंतरराष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में राज्यों के कुछ निश्चित व्यवहारों या क्रियाओं का पता चलता है।

टिप्पणी

यह सिद्धांत मुख्य रूप से राज्यों की विदेश नीति निर्णय और उस परिवेश या पृष्ठभूमि पर ध्यान केंद्रित करता है जिसमें निर्णय लिए जाते हैं। इस परिवेश के दो घटक तत्व हैं– आंतरिक और बाह्य। आंतरिक घटक तत्व में व्यक्तित्व, संगठन व संरचना, तथा भूमिकाएं आदि शामिल हैं और बाह्य घटक में किसी समय पर अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के सभी प्रासंगिक कारणों को सम्मिलित किया जाता है। निर्णय–निर्माण सिद्धांत नें राष्ट्र–राज्यों की कार्यवाहियों, व्यवहारों और विदेश नीति निर्माण की प्रक्रिया और उसके आंतरिक पहलुओं को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसे अन्य सभी सिद्धांतों द्वारा इतना महत्व नहीं दिया गया था।

निर्णय–निर्माण सिद्धांत आलोचकों ने यह कहकर आलोचना की है की यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सामाजिक–आर्थिक पहलुओं की उपेक्षा करता है और निर्णयकर्ताओं के व्यावहारिक पहलुओं पर ज्यादा केंद्रित है। इसलिए कुछ आलोचकों का यह भी मत है की निर्णय निर्माण एक व्यक्तिपरक दृष्टिकोण है जबकि यह सिद्धांत अपने विश्लेषण में वस्तुनिष्ठ और मूल्य–मुक्त दृष्टिकोण को अपनाता है। निर्णयकर्ता के व्यक्तित्व और परिवेश का पूर्णत : वस्तुनिष्ठ अध्ययन संभव नहीं है। इस सिद्धांत के माध्यम से यह तो जानकारी प्राप्त होती है की कोई निर्णय क्यों और कैसे लिए जाते हैं किन्तु यह पता नहीं चलता है की उस लिए गए निर्णय का प्रभाव क्या हुआ या वह समस्या के समाधान में सहायक हुआ या नहीं। इसलिए आलोचकों ने यह कर भी आलोचना की है की निर्णय निर्माण सिद्धांत एक विश्वसनीय सिद्धांत के प्रतिपादन में सफल नहीं रहा है।

हालांकि, उपयुक्त आलोचनाओं के बाद भी यह कहा जा सकता है की निर्णय निर्माण सिद्धांत की विदेश नीति के निर्माण और कार्यान्वयन के अध्ययन में महत्वपूर्ण भूमिका है। इसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के कार्यवाहियों का विश्लेषण प्रस्तुत कर उन्हें उजागर करने का कार्य किया है।

1.4.6 खेल सिद्धान्त

खेल सिद्धांत को मुख्य रूप से गणितज्ञों और अर्थशास्त्रियों के द्वारा विकसित किया गया। गणितज्ञ जॉन वॉन न्यूमैन और अर्थशास्त्री ऑस्कर मॉर्गनस्टर्न ने अपनी पुस्तक "थ्योरी ऑफ गेम गेम्स एंड इकोनामिक बिहेवियर" में खेल सिद्धांत का विचार सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। न्यूमैन और मॉर्गनस्टर्न के बाद बड़ी संख्या में विद्वानों ने सामाजिक विज्ञान के विभिन्न विषयों में इस सिद्धांत को लागू करने का कार्य किया। 1960 के दशक में, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भी खेल सिद्धांत का प्रयोग बढ़ती आवृत्ति के साथ किया जाने लगा। मार्टिन शुविक, जॉन नैश कार्ल ड्यूश आदि ने खेल सिद्धांत को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांत अध्ययन का एक ऐसा प्रतिमान विकसित करने का प्रयत्न करता है, विशेषकर संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की स्थिति में जब राष्ट्र–राज्यों के व्यवहार का अनुमान लगाना मुश्किल होता है। हम देखते हैं कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के बीच सदैव प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और सहयोग की स्थिति कायम रहती है। शीत युद्ध के दौरान इस सिद्धांत की लोकप्रियता और बढ़ गई क्योंकि उस समय प्रत्येक महाशक्तियां अपने प्रतिद्वंदी राष्ट्र की चाल और नीतियों को समझने के प्रयत्न में लगी हुई थी।

टिप्पणी

खेल अक्सर वास्तविक परिस्थितियों का विश्लेषण करने की रणनीति या तरीके प्रदान करते हैं। ज़गेट (1984) के अनुसार, "जब खेल के सिद्धांतकार "खेल " शब्द का उपयोग करते हैं, तो वे दो या दो से अधिक अभिनेताओं (खिलाड़ियों) को शामिल करने वाली किसी भी सामाजिक स्थिति का उल्लेख कर रहे हैं जिसमें खिलाड़ियों के हितों का परस्पर या अन्योन्याश्रित संबंध हो।" खेल सिद्धांत की संपूर्ण संरचना में यह समझना सबसे महत्वपूर्ण है कि एक खेल में खिलाड़ी कितना तर्कसंगत या अधिकतम उपयोगी हैं। जैसा कि खेल के सिद्धांतकार इस शब्द का उपयोग करते हैं, तर्कसंगतता का अर्थ है कि एक पारस्परिक संवादात्मक स्थिति में एक खिलाड़ी संभावित परिणामों में से सबसे अधिक पसंदीदा लाने के लिए कार्य करेगा, यह देखते हुए कि अन्य खिलाड़ी भी उसी तरह से कार्य कर रहे हैं।

जैसे हम एक विशेष खेल में खिलाड़ियों के रणनीतिक स्थिति को समझकर यह अनुमान लगाने में सक्षम हो सकते हैं, कि किस स्थिति में क्या व्यवहार तर्कसंगत है। उसी प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भी राष्ट्रों के व्यवहार का आकलन करके तर्कसंगत रणनीति का निर्माण किया जाता है जिससे कि अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांत एक तर्कसंगत रणनीतिक प्रतिमान प्रदान करता है, जिसके द्वारा प्रत्येक राष्ट्र–राज्य अपनी विदेश नीति संचालन में ऐसे निर्णय ले सकता है जिससे उसके राष्ट्रीय हित का अधिकतम संवर्धन हो सके।

अनातोल रेपोपोर्ट (2012) ने खेल सिद्धांत को औपचारिक रूप से संघर्ष स्थितियों में तर्कसंगत निर्णय के सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया है। इनके अनुसार, "खेल सिद्धांत में मुख्य रूप से सम्मिलित है (1) निर्णय निर्माताओं का एक समूह, जिन्हें खिलाडी कहा जाता हैं; (2) प्रत्येक खिलाड़ी के लिए उपलब्ध रणनीतियों का एक समूह; (3) परिणामों का एक समुच्चय, जिनमें से प्रत्येक खेल के दिए गए खेल पर खिलाड़ियों द्वारा बनाई गई रणनीतियों के विशेष विकल्पों का परिणाम होता है; और (4) प्रत्येक संभावित परिणामों में प्रत्येक खिलाड़ी को दिए गए भुगतान का एक संग्रह।

ज़गेट (1984) के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांत के मुख्यतः निम्लिखित प्रतिमान प्रचलित हैं–

A. एक–व्यक्ति–खेल : तकनीकी रूप से, सबसे सरल प्रकार का खेल एक व्यक्ति खेल है, जिसे कभी–कभी प्रकृति के खिलाफ एक खेल माना जाता है जिसमें एक व्यक्ति ही सारे निर्णय लेता है।

B. दो–व्यक्ति–खेल : इस खेल में दो खिलाड़ी होते है सामान्यतया जटिल स्थितियों में प्रारंभिक रूप से दो खिलाड़ियों की अंतर्क्रिया होती है। इसलिए इस खेल में राजनीति के विद्वानों की ज्यादा रूचि रही है इसके दो प्रकार हैं।

   a) दो–व्यक्ति–शून्य–योग–खेल : इस खेल में केवल दो खिलाड़ियों की मौजूदगी होती है जिसमें एक का लाभ हमेशा दूसरे के हानि के बराबर होता है अर्थात संघर्ष की प्रकृति निर्णायक होती है।

   b) दो–व्यक्ति–गैर–शून्य–योग–खेल : इस खेल में दो व्यक्ति की मौजूदगी होती है, जिसमें किसी एक प्रतिभागी का लाभ दूसरों के हानि के बराबर नहीं होता है अर्थात यह संभव है कि दोनों पक्ष लाभान्वित हों।

टिप्पणी

C. एन–व्यक्ति–खेल : इस खेल में दो से अधिक खिलाड़ियों की मौजूदगी संभव है, जिसमें खेल का प्रतिफल खिलाड़ियों द्वारा आपस में साझा हो जाता है। दोनों पार्टियां अलग–अलग मात्रा में या अलग–अलग स्तर से हार सकती हैं।

खेल सिद्धांत ने सीमित युद्ध, अवरोध और शस्त्र दौड़ व नियंत्रण के अध्ययन में योगदान दिया है, यह विश्लेषण की कोशिश करता है कि अराजकता दुनिया में प्रतिस्पर्धी राज्यों के बीच सहयोग कैसे प्राप्त किया जा सकता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कुछ प्रसिद्ध खेलों में "प्रिज़नर्स डिलेमा", "स्टैग हंट" और "चिकेन गेम" हैं। ये सभी खेल अंतरराष्ट्रीय राजनीति में परिणामों की अनिश्चितता पर आधारित हैं।

खेल सिद्धांत की विभिन्न अंतरष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा आलोचना भी की गयी है। सबसे प्रमुख आलोचना यह की जाती की ये सिद्धांत खिलाड़ियों अर्थात राष्ट्र राज्यों के तर्कसंगत व्यवहार की तो बात करता है पर प्रायः राष्ट्र–राज्य अभिकर्ता के रूप में अंतरराष्ट्रीय राजनीति में गैर–तर्कसंगत व्यवहार क्यों करते हैं इसका विश्लेषण नहीं करता है। कुछ आलोचकों का मानना है की खेल सिद्धांत अभिकर्ताओं के व्यवहार जटिलता को पहचानने में असफल रहा है। यह सम्भावनाओं के ऊपर अधिक आधारित है तथ्यों पर कम। कार्ल ड्यूश ने खेल सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा है की यह पक्षपातपूर्ण अनुमाओं पर आधारित है। उनके अनुसार प्रायः खेल सिद्धांत यह मान कर चलता है की खेल का अंत हो जाता है जबकि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अधिकतर खेल अंतहीन होते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों का व्यवहार और परिस्थितियां दोनों ही अप्रत्याशित है। इन आलोचनाओं के बावजूद खेल सिद्धांत ने कुछ धारणाओं जैसे शस्त्रीकरण, अवरोध आदि के अध्ययन में एक नए रणनीतिक विकल्प प्रस्तुत करके महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

कैदी की दुविधा (प्रिसनर्स डिलेमा)

एक ऐसा खेल जिसमें दो कैदी तर्कसंगत रूप से सहयोग करते हैं ताकि खराब परिणामों से बचा जा सके।ृकैदी की दुविधा ' खेल सिद्धांत में प्रचलित महत्वपूर्ण खेलों में से एक है। यह विरोधी हितों के साथ दो संदिग्ध आरोपियों के बीच बातचीत की विरोधाभासी प्रकृति को दिखाता है। इस काल्पनिक स्थिति में, एक अपराध में दो साथी कैद होते हैं, और वे एक दूसरे को धोखा देने और अपराध कबूल नहीं करने के लिए एक समझौते में प्रवेश करते हैं। प्रत्येक को मिलने वाली सजा की गंभीरता उनके व्यवहार से निर्धारित होती है, दोनों कैदी अलग हो गए हैं और एक दूसरे के साथ संवाद नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक कैदी के पास दो विकल्प हैंः वे अपराध करने के लिए स्वीकार कर सकते हैं, या वे अपराध करने से इनकार कर सकते हैं। परिणाम उन विकल्पों पर निर्भर करेगा जो प्रत्येक व्यक्ति करता है। चटर्जी (2018) के अनुसार प्रत्येक को चार संभावित परिणामों के साथ प्रदान किया जाता हैः

1) यदि कोई अपराध कबूल करता है और दोषी को दोष देता है, तो उसकी सजा कम हो जाएगी 2)अगर कोई एक आरोपी कबूल करता है, लेकिन दूसरा नहीं करता है, यानी साथी एक–दूसरे के साथ विश्वासघात नहीं करने के लिए समझौते में सहयोग करता है। पहला कैदी पुलिस के साथ एक सौदा कर सकता है और उसे मुक्त कर दिया जाएगा। लेकिन वे जो जानकारी प्रदान करते हैं, उसका उपयोग दूसरे आरोपी

टिप्पणी

के खिलाफ किया जाएगा। 3) यदि दोनों व्यक्ति अपराध को स्वीकार करते हैं, तो प्रत्येक को कम सजा मिलती है, लेकिन कोई भी मुक्त नहीं होता है 4) अगर दोनों ही अपराध कबूल नहीं करते हैं, तो प्रत्येक कैदी को सबूतों की कमी के कारण न्यूनतम सजा मिलती है। यह विकल्प किसी भी व्यक्ति के लिए समान रूप से आकर्षक नहीं हो सकता है, क्योंकि पुलिस के साथ एक सौदा करने और किसी एकआरोपी की कीमत पर मुक्त होने का मौका बर्बाद हो जाता है। चूंकि कैदी एक–दूसरे के साथ संवाद करने की स्थिति में नहीं हैं, इसलिए सवाल है कि इस बात पर भरोसा करना की दूसरा कबूल नहीं करेगा, इस खेल का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है।

चिकन गेम

"चिकन गेम" नाम का एक खेल है, जिसमें दो ड्राइवर टकराव की स्थिति में एक–दूसरे की ओर गाड़ी चलाते हैंः एक को दुर्घटनाग्रस्त होना चाहिए, या दोनों दुर्घटना में मर सकते हैं, लेकिन अगर एक चालक मुड़ जाता है और दूसरा नहीं मुड़ता है, तो वह जो मुड़ता है को "चिकन" कहा जाएगा, जिसका अर्थ की वह एक कायर होगा। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में, चिकन गेम एक खतरनाक खेल को संदर्भित करता है जिसमें देश तब तक समझौता नहीं करने की कोशिश करते हैं जब तक कि दुश्मन पहले पीछे नहीं हटता।इस खेल की स्थिति की मुख्य विशेषताएं यह है कि अपने प्रतिद्वंद्वी के इरादों को जानने में सक्षम नहीं होने के बावजूद, एक राष्ट्र इस तरह की कार्रवाई को अपना सकता है क्योंकि कार्रवाई के दौरान उसके उत्पीड़क की पुष्टि भी होगी।

1.4.7 संचार सिद्धांत

संचार सिद्धांत के विकास में प्रारंभिक योगदान अमेरिकी गणितज्ञ नॉबर्ट वीनर का रहा है, जिन्होंने 'साइबरनेटिक्स' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो की संचार सिद्धांत का मूल विचार है। हालांकि, राजनीति में इस सिद्धांत को विकसित करने का श्रेय कार्ल ड्यूश को जाता है जिन्होंने अपनी पुस्तक "द नर्व्स ऑफ गवर्नमेंटः मॉडल्स ऑफ़ पोलिटिकल कम्यूनिकेशन एंड कंट्रोल" में राष्ट्रीय परिदृश्य को समझने के लिए इसका प्रयोग किया।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का संचार सिद्धांत साइबरनेटिक्स और संचार अवधारणाओं का एक व्यवस्थित परिणाम रहा है, अतः इन दोनों ही शब्दों को समझना आवश्यक है। साइबरनेटिक्स मशीन और जीवित प्राणी दोनों में संचार और स्वायत्त नियंत्रण प्रणाली का विज्ञान है। संचार तथ्यों, विचारों, सूचनाओं और भावनाओं का आदान–प्रदान है। वीनर का मानना था की इलेक्ट्रॉनिक संकेत, मानव–तंत्रिका कोशिकाओं और सरकारी कार्यों के बीच बुनियादी समानता मौजूद है। यह सभी सूचनाओं को साझा और संचारित करते हैं। कार्ल ड्यूश ने वीनर के साइबरनेटिक्स के तर्क को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में उपयोग किया।

कार्ल ड्यूश के अनुसार साइबरनेटिक्स संचार और नियंत्रण के अध्ययन के रूप में सभी प्रकार की राजनीति के लिए सामान्य दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह संचार राजनीति का केंद्र है, जो 'सरकार की नसों का निर्माण' करता है। संचार के अध्ययन से यह जानने में मदद मिलती है कि निर्णय निर्माताओं के बीच संदेशों का आदान–प्रदान होता है और ऐसे संदेश निर्णय लेने की दिशा में किस प्रकार योगदान करते हैं।

टिप्पणी

साइबर्नेटिक्स किसी भी प्रणाली पर लागू होता है, जिसमें पर्याप्त संगठन संचार और नियंत्रण होता है। कोई भी व्यवस्था जहां संदेश प्रायः स्थानांतरित संग्रहित पुनः प्राप्त और प्रतिपुष्ट किए जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था भी इन सभी मानदंडों को पूरा करती है, अतः संचार के प्रवाह के अध्ययन से अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में सहायता मिलती है।

ड्यूश के संचार सिद्धांत ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के महत्व को कम कर दिया है क्योंकि ड्यूश ये नहीं मानते है कि शक्ति या भौतिक बल का प्रयोग ही राजनीतिक मामलों के अनन्य निर्धारक हैं। उनके अनुसार शक्ति राजनीति का सार नहीं है। राजनीति के केंद्र में संचार है, जिसे वह 'स्टीयरिंग' (संचालक) मानते हैं। उनके अनुसार शक्ति की भूमिका बहुत कम होती है, क्योंकि जब अनुनय– विनय और सहयोग या प्रभाव वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में विफल सिद्ध होते हैं, तभी शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार संचार ही अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण कारक है। संचार की प्रभावशीलता के कारण ही राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तनशील है।

हालांकि संचार सिद्धांत की आलोचकों ने इसे बहुत ज्यादा 'यंत्रवत' सिद्धांत कहकर आलोचना की है। उनके अनुसार साइबरनेटिक्स की धारणा को राजनीति की समस्याओं के समाधान में प्रयोग संभव नहीं है। यह बहुत ही जटिल अवधारणा है। डेविस बोब्रोव के अनुसार, "अंतरराष्ट्रीय राजनीति में साइबरनेटिक्स मॉडल उपर्युक्त नहीं बैठता है क्योंकि अंतरराष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र व्यापक है।"

प्रत्येक सिद्धांत की कुछ कमियां होती है संचार सिद्धांत की भी कमियां है किन्तु इसके बावजूद हम यह कह सकते हैं की संचार सिद्धांत ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में सूचनाओं और संचार की भूमिका द्वारा निर्णय निर्माण और नीति विश्लेषण के अध्ययन में सहायता की है और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक नया आयाम जोड़ने का कार्य किया है। वर्तमान के वैश्विक परिदृश्य में संचार और तकनीकी की बढ़ती भूमिका इस सिद्धांत को और प्रासंगिक बनाती है।

1.4.8 सामान्य व्यवस्था सिद्धांत

सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रयोग सर्वप्रथम 1920 में जर्मन जीव वैज्ञानिक लुडविग वॉन बर्टलान्फी द्वारा किया गया जिन्होंने जीव विज्ञान के अध्ययन हेतु इस सिद्धांत को विकसित किया। जीव विज्ञान से यह सिद्धांत नृविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान में आया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी क्रांति के परिणामस्वरूप व्यवस्था सिद्धांत का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में किया जाने लगा। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक जेम्स एन. रोजनाउ, केनेथ ई. बोल्डिंग, केनेथ वाल्ट्ज और मैकलैंड आदि हैं। किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था सिद्धांत को विकसित करने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान मॉर्टन कैप्लान का रहा है।

व्यवस्था से तात्पर्य है वस्तुओं और तत्वों का समूह जो परस्पर अंतर–क्रिया करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था में कई तत्व होते हैं, जो आपस में अंतर–क्रिया करते हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का मुख्य तत्व राष्ट्र–राज्य हैं। यह राष्ट्र–राज्य एक दूसरे से बातचीत करते हैं और एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। अंतरराष्ट्रीय

टिप्पणी

राजनीति में व्यवस्था सिद्धांत के समर्थकों का मानना है कि, अंतरराष्ट्रीय राजनीति का एक वैज्ञानिक अध्ययन संभव है, अगर राष्ट्रीय राज्यों और उनके अन्योन्याश्रितता के स्तर के बीच की अंतर– क्रिया का विश्लेषण किया जाए।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में जब व्यवस्था की अवधारणा का प्रयोग किया जाता है, तो इसका तात्पर्य अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था से होता है ना कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति व्यवस्था से है। कैप्लान के अनुसार अंतरराष्ट्रीय–व्यवस्था अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था नहीं है क्योंकि इसके पास बाध्यकारी शक्ति का अभाव है। राजनीतिक व्यवस्था के लिए बाध्यकारी शक्तियों का होना महत्वपूर्ण है। अंतरराष्ट्रीय अभिकर्ता संप्रभुता राज्य हैं, अतः कोई भी अंतरराष्ट्रीय निकाय उन पर बाध्यकारी रूप से शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता है। इसलिए, इसे अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है।

मॉर्टन कैप्लान ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के 6 प्रमुख प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं –

1. शक्ति संतुलन व्यवस्था– यह व्यवस्था यूरोपीय राष्ट्र–राज्यों में 18वीं और 19वीं शताब्दी में अस्तित्व में थी। इसमें राज्यों के मध्य शक्ति का वितरण लगभग समान होता है जिससे कोई एक राज्य शक्तिशाली नहीं बन पाता है। इस व्यवस्था में युद्ध की संभावना न्यूनतम होती है और राज्य कूटनीति और बातचीत के जरिए मतभेदों का समाधान पसंद करते हैं।
2. शिथिल द्वि–ध्रुवीय व्यवस्था– कैप्लान का मानना था कि यदि शक्ति संतुलन की व्यवस्था भंग होती है तो वह एक शिथिल द्वि–ध्रुवीय व्यवस्था में परिणित हो सकती है। जहां दो प्रतिद्वंद्वी महाशक्तियां या गुट प्रमुख हो जाती है और राजनीति को नियंत्रित करती हैं। ऐसी व्यवस्था में दो महाशक्तियों के अतिरिक्त कुछ छोटे राष्ट्र या तटस्थ राष्ट्रों का भी समूह होता है जिससे बड़े कार्यकर्ताओं की शक्ति शिथिल बनी रहती है। शीत युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में भी ऐसी स्थिति थी कि जहां सोवियत संघ और अमेरिका जैसी दो महाशक्तियों के साथ गुटनिरपेक्ष देशों का भी समूह उपस्थित था। यह शिथिलता अस्थिरता की ओर ले जाती हैं, क्योंकि अभिकर्ता एक गुट से दूसरे गुट में जाते रहते हैं ।
3. दृढ़–द्विध्रुवी व्यवस्था– कैप्लान के अनुसार शिथिल द्वि–ध्रुवीय व्यवस्था दृढ़–द्विध्रुवीय व्यवस्था में तब परिवर्तित हो जाती है, जब दो महाशक्तियां या गुट ही अस्तित्व में होतें हैं और गुटनिरपेक्ष देश या असदस्यीय देश, अंतरराष्ट्रीय संगठन आदि महत्वहीन हो जाते हैं। अतः दोनों गुटों के बीच कोई मध्यस्थ नहीं रह जाता है जिससे निरंतर तनाव की स्थिति बनी रहती है।
4. सार्वभौमिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था– यह एक विश्व सरकार की आदर्शवादी व्यवस्था है, जहां अंतरराष्ट्रीय निकाय जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ या इस तरह का कोई अन्य सार्वभौमिक कर्ता इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि वह राष्ट्र–राज्य कर्ताओं को नियंत्रित कर सकें और विश्व शांति को बनाए रख सके।
5. पदानुक्रमित या एक–ध्रुवीय व्यवस्था– कैप्लान के अनुसार इस व्यवस्था में एक सार्वभौमिक कर्ता पूरी वैश्विक राजनीति में महत्वपूर्ण हो जाता है और अन्य राष्ट्र मात्र एक क्षेत्रीय इकाई बन कर रह जाते हैं। अगर यह व्यवस्था विश्व विजय

टिप्पणी

द्वारा अस्तित्व में आती है तो यह निर्देशात्मक व्यवस्था कह लाएगी, जहां तनाव रहेगा और छोटे राष्ट्र असुरक्षित महसूस करेंगे। किंतु, यदि लोकतांत्रिक तरीके से अस्तित्व में आती है तो यह अनिर्देशात्मक व्यवस्था होगी जिसमें तनाव की स्थिति कम रहेगी और शक्ति का वितरण श्रेणी के अनुसार होगा।

6. इकाई निषेधाधिकार व्यवस्था– कैप्लान व्यवस्था सिद्धांत का यह अंतिम प्रतिमान है जहां पर सभी राष्ट्र–राज्यों के पास शक्ति होगी जिससे वह एक दूसरे को नष्ट करने में समर्थ होंगे। राष्ट्रों के पास घातक हथियार होंगे, जिससे वह दूसरे राष्ट्र को नष्ट कर सकते हैं। परमाणु हथियारों के जन्म के साथ यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक वास्तविकता है।

अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को समझने में मॉर्टन कैप्लान के यह छः प्रतिमान महत्वपूर्ण हैं। यह प्रतिमान कैप्लान द्वारा 1959 में प्रस्तुत गए थे। इसके बाद अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में बहुत सारे परिवर्तन हुए। कैप्लान ने अपने व्यवस्था सिद्धांत में संशोधन करते हुए चार नए प्रतिमानों को सम्मिलित किया है। ये हैं –

- बहुत शिथिल द्विध्रुवीय प्रणाली : अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यह दो गुटों शिथिल या ढीली व्यवस्था है जो शस्त्रों को बनाये रखने और और उनके नियंत्रण की निरंतर खोज द्वारा संचालित होती है। परिणामस्वरूप दोनों गुट अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा में लगे रहते हैं ।
- दितान्त प्रणाली : इस प्रणाली में दो महाशक्ति बिना किसी गंभीर संघर्ष के अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक–दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा कर रही होती हैं।
- अस्थिर गुट प्रणाली : इस प्रणाली में दो महागुट या शक्तियां उपस्थित होती है जो एक–दूसरे को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखती हैं। एक दूसरे पर उनका यह संदेह निरंतर बढ़ता जाता है।
- अपूर्ण परमाणु प्रसार प्रणाली : इस में महाशक्तियों के अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में कई अन्य परमाणु शक्ति देशों का भी अस्तित्व होता है।

इस प्रकार मॉर्टन कैप्लान ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का अपने विभिन्न व्यवस्था प्रतिमानों के माध्यम से व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया जो अंतरराष्ट्रीय राजनीति को बेहतर ढंग से समझा जा सके। हालांकि व्यवस्था सिद्धांत के कैप्लान के प्रतिमानों की यह आलोचना की गयी की ये प्रतिमान और इनका क्रम अंतरराष्ट्रीय राजनीति की कसौटी पर उपयुक्त सिद्ध नहीं होते हैं। इन प्रतिमानों के निरूपण में महत्वपूर्ण तत्वों की उपेक्षा की गयी है। यह सिद्धांत राष्ट्र राज्यों को महत्वपूर्ण मानता है किंतु गैर–राज्य–कर्ताओं की भूमिका को नजरअंदाज करता है। इसके अतिरिक्त कौन सा अभिकर्ता जैसे महाशक्ति, छोटे राष्ट्र या अंतरराष्ट्रीय संगठन किस समय पर किस भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं, यह भी स्पष्ट वर्णित नहीं है।

व्यवस्था सिद्धांत की इन आलोचनाओं के बाद भी कहा जा सकता है की व्यवस्था सिद्धांत ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को अधिक व्यवस्थित और केंद्रित किया है। कैप्लान के व्यवस्था प्रतिमानों ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के आकलन में सराहनीय भूमिका निभाई है।

टिप्पणी

1.4.9 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक सिद्धांत

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत इसे संक्षेप में प्रकार्यात्मक सिद्धांत भी कहा जाता है, व्यवस्था सिद्धांत से उत्पन्न सिद्धांत है। यह सिद्धांत मानव–विज्ञान, जीव–विज्ञान, समाजशास्त्र से होता हुआ राजनीति विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अपनाया गया है। मुख्य रूप से, मैलिनोवस्की और रेडक्लिफ ब्राउन ने मानव–विज्ञान में टेल्कोट पार्सन ने समाजशास्त्र में और ग्रैबियल आमंड और केनेथ वाल्ट्ज़ ने राजनीति विज्ञान और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इस सिद्धांत को विकसित करने में भूमिका निभाई है। इस सिद्धांत का मूल प्रस्ताव यह है कि सभी राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय प्रणालियां अपनी संरचनाओं के माध्यम से कार्य करती हैं। ड्रियू पॉल (2018) के अनुसार संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक सिद्धांत की मूल धारणाएं हैं:

- समाज एक अंतः परस्पर संबंध प्रणाली है जिसमें इसके प्रत्येक तत्व एक विशिष्ट कार्य करते हैं और जिसका मुख्य लक्ष्य संतुलन को बनाए रखना है।
- समाज के एक पूर्ण व्यवस्था होने के नाते इसके कई भाग होते हैं जो आपस में संबंधित होते हैं।
- व्यवस्था के पास अपने आंतरिक संघर्षों के समाधान की योग्यता रहती है।
- व्यवस्था में परिवर्तन होना स्वाभाविक है लेकिन अचानक या क्रांतिकारी न होकर हमेशा यह क्रमिक और अनुकूल होता है
- व्यवस्था की अपनी संरचना होती है साथ ही इसके अपने उद्देश्य,सिद्धांत और कार्य होते हैं।
- सभी राजनीतिक प्रणालियों में एक संरचना होती है और सभी राजनीतिक संरचनाएं अपने अपने कार्य विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों में अलग–अलग स्तर पर करती हैं।

1950 और 1960 के दशक में अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बड़ी संख्या में स्वतंत्र राष्ट्र–राज्यों का उदय हुआ। नए राष्ट्र–राज्यों के अध्ययन हेतु पश्चिमी राजनीति के अध्ययन के सिद्धांत उपयोगी नहीं है ऐसा राजनीति और अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा अनुभव किया गया क्योंकि यह सिद्धांत अमेरिकन और यूरोपीय देशों की औद्योगिक समाज और व्यवस्था के विश्लेषण पर आधारित थे जबकि इन नव स्वतंत्र देशों की समस्याएं और चुनौतियां अलग थी। अतः एक ऐसे सिद्धांत की आवश्यकता थी, जो विभिन्न प्रकार की राजनीति प्रणालियों का विश्लेषण कर सके। इस समस्या के समाधान हेतु संरचनात्मक–कार्यात्मक सिद्धांत का विकास हुआ जो तृतीय विश्व के विश्लेषण में अत्यंत लोकप्रिय हुआ।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत के अनुसार अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में सीमाबद्ध राष्ट्र राज्य प्रणाली मौजूद है। यह सिद्धांत व्यवस्था के अंतर्गत संरचनाओं की उनके कार्यों के संदर्भ में अध्ययन करता है। संरचनात्मक प्रकार्यवाद इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि एक राजनीतिक व्यवस्था या देश के अंतर्गत उसकी संरचनाएं जैसे– नौकरशाही, राजनीतिक दल, विधानसभा, मीडिया और दबाव समूह क्या भूमिका निभाते हैं।

टिप्पणी

प्रकार्यवादियों के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राजनीतिक व्यवस्था को राष्ट्र– राज्य समझा जाता है और उस व्यवस्था के वातावरण की रचना आतंरिक और बाह्य दोनों प्रकार की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक अवययों और घटनाओं के बीच अंतर–क्रिया से होता है। अगर किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में देखें तो कई प्रकार के अभिकर्ताओं जैसे राजनीतिक दल, सेना, न्यायपालिका इत्यादि होते हैं और इन सभी के कार्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन कर्ताओं के महत्व का विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था में उनके द्वारा संपादित भूमिका से होता है। किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में इस सिद्धांत के साथ यह समस्या उत्पन्न होती है कि प्रकार्यवादी जो यह मानकर चलते हैं कि राष्ट्रीय राज्यों की सीमाएं निश्चित हैं आज ऐसा नहीं है, बल्कि आज राष्ट्र–राज्यों की सीमाएं पारगम्य या भेद्य हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिकी सेना खाड़ी देशों और अन्य देशों में भी उपस्थित हैं और उनके आतंरिक और बाह्य राजनीति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही हैं।

बैरी बजान इत्यादि (2013) के अनुसार केनेथ वाल्ट्ज़ ने दावा किया है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली को प्रकार्यात्मक रूप से विभेदित नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार अंतरराष्ट्रीय प्रणाली निश्चित रूप से राष्ट्र–राज्यों की एक प्रणाली है, जो इस दावे पर आधारित है कि प्रकार्यात्मक विभिन्नता की तुलना में राज्यों में एक भूखण्डात्मक भिन्नता अधिक महत्वपूर्ण है। प्रकार्यात्मक विभिन्नता मुख्यतः तब महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, जब आमतौर पर इसे एक अंतरराष्ट्रीय कानून या अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली या एक अंतरराष्ट्रीय समाज या अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली से अलग किया जाता है।

संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों ने राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख चुनौतियां प्रवेश और एकीकरण (राज्य–निर्माण), निष्ठा और प्रतिबद्धता (राष्ट्र–निर्माण), भागीदारी, वितरण और वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय पैठ को बताया है। अंतरराष्ट्रीय पैठ में अंतरराष्ट्रीय संगठन, बहुराष्ट्रीय निगम अन्य राष्ट्र, वैचारिक आंदोलन, व्यक्तित्व, आतंकवाद, तकनीकी, मीडिया और प्रचार इत्यादि शामिल हैं। उनके अनुसार पश्चिमी राष्ट्रों में राज्य निर्माण, राष्ट्र निर्माण और भागीदारी जैसी समस्याओं का समाधान हो चुका है लेकिन वितरण और अंतरराष्ट्रीय पैठ जैसी चुनौतियों का पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है किंतु तृतीय विश्व के देशों में यह सभी चुनौतियां एक साथ घट रही हैं और व्यवस्था पर गंभीर दबाव डाल रही हैं जिसके परिणाम स्वरूप यहां हिंसा और अस्थिरता की मात्रा अधिक दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त प्रकार्यवादियों के अनुसार विकसित और विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में एक और विरोधाभास जो देखने में आता है वह सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों के बीच सीमाओं के अस्तित्व के रूप में है। तृतीय विश्व और विकासशील देशों में प्रायः इन सीमाओं का अभाव दिखाई देता है जबकि पश्चिमी राष्ट्रों में इन संरचनाओं का जो मुख्यतः आर्थिक हैं उन संरचनाओं से अलग करना संभव है जो मुख्य रूप से सामाजिक या राजनीतिक हैं।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक सिद्धांत यद्यपि विकसित, विकासशील देशों के तुलनात्मक अध्ययन में एक उपयोगी ढांचा प्रदान करते हैं लेकिन इनकी इसलिए आलोचना की जाती है कि ये स्थिर हैं और परिवर्तन का विश्लेषण और भविष्यवाणी करने में बहुत

उपयोगी नहीं सिद्ध हुए जबकि परिवर्तन निश्चित रूप से तृतीय विश्व के लिए महत्वपूर्ण है।

टिप्पणी

डेविड मिट्रिनी का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का प्रकार्यात्मक सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि राज्य गतिविधि के तकनीकी और आर्थिक क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ क्रमिक और व्यवहारिक सहयोग के माध्यम से एक शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण किया जा सकता है। यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के शक्तिवादी दृष्टिकोण अर्थात यथार्थवाद के लिए एक वैकल्पिक प्रतिमान प्रदान करता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इस सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक "डेविड मिट्रनी" हैं, जिन्होंने अपनी रचना "ए वर्किंग पीस सिस्टम" (1943) में तकनीकी व वैज्ञानिक क्षेत्रों में सहयोग के माध्यम से विभिन्न राज्य के बीच बेहतर संबंध के निर्माण की बात कही। कार्यात्मक दृष्टिकोण की केंद्रीय विशेषता उनके कार्यों के आधार पर परिभाषित विशिष्ट और सीमित अंतरराष्ट्रीय निकायों के निर्माण से हैं जो वे संपादित करते हैं।

कार्यात्मक सिद्धांत विश्व शांति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अंतरराष्ट्रीय संगठनों व अंतर– राज्यीय और गैर–सरकारी संगठनों के कार्यात्मक सहयोग को महत्वपूर्ण मानता है। इनके अनुसार कार्यात्मक अंतरराष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियों में राजनीतिक और सैन्य के बजाय व्यवहारिक और तकनीकी समस्याओं पर कार्यवाही करना शामिल है। डेविड मिट्रनी मानते हैं कि, अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में अभिकर्ताओं को गैर–राजनीतिक क्षेत्र जैसे आर्थिक और तकनीकी में सफलतापूर्वक सहयोग करने का अवसर मिलता है, जबकि राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग कठिन होता है, क्योंकि वहां एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. राजनीति में संचार सिद्धांत को विकसित करने का श्रेय किसको जाता है?

   (क) कार्ल डयूश (ख) जॉन वॉन न्यूमैन

   (ग) रिचर्ड स्नाइडर (घ) डीन रस्क

6. सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मन जीव वैज्ञानिक लुडविग वॉन बर्टलान्फी द्वारा किस सन् में किया गया?

   (क) सन् 1910 (ख) सन् 1920

   (ग) सन् 1930 (घ) सन् 1940

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (घ)
3. (ग)

4. (ख)
5. (क)
6. (ख)

टिप्पणी

1.6 सारांश

साधारण शब्दों में अंतरराष्ट्रीय राजनीति से तात्पर्य राज्यों के मध्य राजनीति से है। यह उन क्रियाओं का अध्ययन करती है, जिसके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्र राज्य अपने हितों की प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय शक्ति के आधार पर संघर्षरत रहते हैं।

वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अर्थ अत्यंत व्यापक हो गया है। आज राज्यों के अलावा कई अन्य कारक जैसे व्यक्ति, संस्था, अंतरराष्ट्रीय संगठन व मुद्दे, गैर– राज्य इकाइयां भी इसका विषय क्षेत्र बन गए हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विकास विभिन्न चरणों में हुआ है, जिसमें बदलती अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र सिद्धांतों और प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ है।

बीसवीं शताब्दी से लेकर अभी तक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कई सिद्धांतों का विकास हुआ है जिसमें आदर्शवाद से लेकर वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित व्यवस्था सिद्धांत तक सम्मिलित है। इन सिद्धांतों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन में सहायता की है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद अंतरराष्ट्रीय राजनीति के दो मुख्य सिद्धांत रहे हैं। आदर्शवाद जहां विश्व शांति नैतिकता और लोकतंत्र की बात करता है वही यथार्थवाद शक्ति, राष्ट्रीय सुरक्षा, और संघर्ष को अंतरराष्ट्रीय राजनीति का मूलभूत तत्व मानता है।

1960 के दशक में व्यवहारवादी क्रांति के परिणामस्वरूप अंतरराष्ट्रीय राजनीति में वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को अपनाया जाने लगा, जिससे खेल सिद्धांत, सामान्य व्यवस्था सिद्धांत, प्रकार्यात्मक और नीति निर्माण जैसे सिद्धांतों का विकास हुआ है। इन सिद्धांतों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर समझने का प्रयास किया है।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **राष्ट्र–राज्य** : एक प्रादेशिक रूप से आवद्ध संप्रभुता राज–व्यवस्था। राष्ट्र–राज्य नागरिकों के एक समुदाय के नाम पर शासित होता है, जो खुद को एक राष्ट्र के रूप में पहचानते हैं।
- **अराजकता** : एक ऐसी स्थिति जिसमें कोई केंद्रीय वैधानिक सत्ता नहीं होती है।
- **बहुराष्ट्रीय निगम** : एक से अधिक देशों में परिचालन वाली कंपनी; गैर राज्य नेताओं का एक प्रकार; जिसे ट्रांसनेशनल कॉर्पोरेशन भी कहा जाता है।

टिप्पणी

- **बहुलवाद** : कई प्रतियोगी अवधारणाओं या विचारों की उपस्थिति।
- **महाशक्ति** : एक राज्य जिसे पदानुक्रमित राज्य प्रणाली में सबसे शक्तिशाली समझा जाता है।
- **गैर–राज्य अभिकर्ता** : एक व्यक्ति या संगठन जिसमें महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रभाव होता है लेकिन किसी विशेष देश या राज्य से संबद्ध नहीं होता है। जैसे– संयुक्त राष्ट्र संघ, एमेनेस्टी इंटरनेशनल, विश्व बैंक, विभिन्न गैर सरकारी संगठन (NGOs) और बहुराष्ट्रीय निगम (MNCs) इत्यादि।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वेस्टफेलिया की संधि कब हुई और इसका अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्या महत्व है?
2. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के मुख्य अध्ययन क्षेत्र संक्षेप में बताइए।
3. अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख पद्धतियां कौन–सी हैं?
4. मार्गेथाऊ के यथार्थवाद को संक्षेप में समझाइये?
5. अंतर्राष्टीय राजनीति का आदर्शवादी सिद्धांत क्या है?
6. अंतरराष्ट्रीय राजनीति की मार्क्सवादियों ने व्याख्या किस परिप्रेक्ष्य में की है?
7. बहुलवाद से आप क्या समझते है इसके प्रमुख प्रतिपादक कौन हैं?
8. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के निर्णय–निर्माण सिद्धांत से क्या समझते है?
9. संचार सिद्धांत किस विचार पर आधारित है और इसके सबसे प्रमुख प्रतिपादक कौन हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अर्थ और उसके विकास की विस्तृत व्याख्या कीजिये?
2. अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति और अध्ययन क्षेत्र का विवेचन कीजिये ?
3. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी और आदर्शवादी सिद्धांत में मुख्य अंतर बताते हुए मर्जेथाऊ के यथार्थवाद की व्याख्या करें?
4. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के मार्क्सवादी सिद्धांत का विश्लेषण करें?
5. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के व्यवस्था सिद्धांत से आप क्या समझते है? मॉर्टन कैप्लान के व्यवस्था सिद्धांत के प्रतिमानों की व्याख्या कीजिये?

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

- Jackson, Robert and George Sorensen (2016), Introduction to International Relations: Theories and Approaches, UK: Oxford University Press.
- Heywood, Andrew (2007), Politics, UK: Palgrave Macmillan.

टिप्पणी

- Devetak, Richard, Antony Burke and Jim George (2012), An Introduction to International Relations, New York: Cambridge University Press.
- Gosh Peu (2020), International Relations, Delhi: PHI Learning Pvt. Ltd.
- Pant Pushpesh (2011) International Relations in 21st Century, New Delhi: Tata McGraw- Hill.
- Chatterjee, Aneek (2010), International Relations Today: Concepts and Application, Delhi: Pearson.
- Kumar, Mahendra (2017), Theoretical Aspects of International Politics, Agra: Shiv lal Agrawal and company.
- Basu, Rumaki (2019), Antarrashtriy Rajneeti, Avdharnayen tatha Mudde, Delhi: Sage Publication.
- Biswal Tapan (2010), Antarrashtriy Sambandh, New Delhi: Macmillan Publishers India Ltd.
- Khanna V.N. (2014) Antarrashtriy Sambandh, Noida: Vikas Publishing House.

इकाई 2 शक्ति संकल्पना

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 शक्ति संकल्पना : अर्थ, तत्व एवं सीमाएं
  2.2.1 राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ
  2.2.2 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व
  2.2.3 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं
2.3 शक्ति प्रबंधन
  2.3.1 शक्ति संतुलन
  2.3.2 प्रतिरोध (डिटेरेंस)
2.4 राष्ट्रीय शक्ति का बदलता स्वरूप
2.5 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित
2.6 अंतरराष्ट्रीय कानून का महत्व एवं राजनय की वर्तमान के संदर्भ में भूमिका
2.7 संयुक्त राष्ट्र
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

2.0 परिचय

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न अवधारणाएं विकसित हुई हैं, जिसके माध्यम से अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने और उसके अध्ययन का प्रयास किया गया है। शक्ति की संकल्पना उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक चर्चा और वाद–विवाद का विषय रही है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति भी आमतौर पर अपने पारंपरिक अर्थ में राष्ट्र–राज्यों के मध्य शक्ति–संघर्ष का ही पर्याय समझी जाती रही है। अन्य सभी अवधारणाएं जैसे शक्ति–संतुलन, राष्ट्रीय हित, राजनय और राष्ट्रीय सुरक्षा इत्यादि शक्ति के इर्द–गिर्द ही घूमती रहती हैं।

शक्ति राष्ट्र की वह क्षमता है जिसके माध्यम से कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को सुरक्षित करने के उद्देश्य से अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित या परिवर्तित करने का प्रयास करता है। शायद इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र अपने शक्ति के विस्तार, उसके संवर्धन और प्रदर्शन में रत रहते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के इस प्रसार को रोकने के लिए शक्ति संतुलन, सामूहिक सुरक्षा, अंतरराष्ट्रीय कानून और अंतरराष्ट्रीय संगठन सरीखे उपक्रमों का प्रबंधन किया गया है।

इस इकाई में हम अंतरराष्ट्रीय राजनीति की बुनियादी अवधारणाओं राष्ट्रीय शक्ति व उसके तत्व, शक्ति संतुलन, और राष्ट्रीय हित पर विमर्श करेंगे। साथ ही अंतरराष्ट्रीय

कानून के महत्व और राजनय की भूमिका एवं संयुक्त–राष्ट्र संघ रूपी सामूहिक सुरक्षा निकाय के बारे में जानने का प्रयास करेंगे।

2.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व और सीमाओं से परिचित हो पाएंगे;
- शक्ति संतुलन सिद्धांत का अर्थ समझते हुए इसका उपयोगिता–परीक्षण कर पाएंगे;
- राष्ट्रीय हित की अवधारणा से अवगत हो पाएंगे;
- अंतरराष्ट्रीय कानूनों के महत्व और राजनय के बारे में जान पाएंगे;
- संयुक्त राष्ट्र की संरचना, उद्देश्य और सिद्धांतों से अवगत हो पाएंगे।

2.2 शक्ति संकल्पना : अर्थ, तत्व एवं सीमाएं

शक्ति अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक केंद्रीय संकल्पना है। राष्ट्र राज्यों की उत्पत्ति के पूर्व भी शक्ति की अवधारणा राजनीति का केंद्र बिंदु थी और राष्ट्र राज्य प्रणाली के उदय के बाद भी इनसे घनिष्ट रूप से संबंधित रही है। संप्रभुता, कानून, राज्य और सरकार सभी में शक्ति को अंतर्निहित तत्व के रूप में मान्यता दी गयी है। प्राचीन भारतीय राजनितिक चिंतक कौटिल्य द्वारा शक्ति को बल प्रयोग के रूप में पहचाना गया। अंग्रेजी दार्शनिक हॉब्स शक्ति को व्यक्तिगत लाभ या भलाई को सुरक्षित करने की क्षमता के रूप में देखा, जिससे कुछ ऐसा प्राप्त किया जा सके जो भविष्य के लिए अच्छा प्रतीत हो। साथ ही हॉब्स ने एक व्यक्ति की शक्ति को दूसरे के सापेक्ष में देखने का प्रयास किया।

शक्ति को बहुत अलग–अलग परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया गया है। उनमें सर्वाधिक सरल और प्रचलित अर्थ में शक्ति से तात्पर्य 'दूसरों के कार्यों व व्यवहार को प्रभावित और नियंत्रित करने की क्षमता' से है। विभिन्न विचारकों ने शक्ति की भिन्न–भिन्न परिभाषएं दी है, उनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

मैकाइवर ने शक्ति को 'व्यक्तियों तथा व्यवहार को नियंत्रित, विनियमित और निर्देशित करने की क्षमता' के रूप में परिभाषित किया है ।

रॉबर्ट बैस्ट्रेड के अनुसार, 'शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग'।

जॉर्ज स्वार्जनबर्गर के अनुसार 'शक्ति अपनी इच्छा को दूसरों पर थोपने की क्षमता है, जिसका अनुपालन न करने पर प्रभावी प्रतिबंधों का सामना करना पड़ सकता है'।

इस प्रकार शक्ति से अभिप्राय एक व्यक्ति या समूह द्वारा, अन्य व्यक्ति या समूह को नियंत्रित करने और उनसे मनचाहा व्यवहार कराने तथा अनचाहा व्यवहार करने से रोकने की क्षमता से है।

2.2.1 राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की जिस संकल्पना का प्रयोग किया जाता है, उसे प्रायः 'राष्ट्रीय शक्ति' के नाम से जाना जाता है क्योंकि राष्ट्र–राज्य ही अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मुख्य इकाई रहे हैं। अतः राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ राष्ट्र की उस क्षमता से है, जिसके उपयोग से वह अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को अपने राष्ट्रीय हितों के लक्ष्यों के अनुकूल नियंत्रित करने में सक्षम होता है। इसके अंतर्गत दूसरे राष्ट्रों पर बल–प्रयोग या धमकी का उपयोग भी शामिल है। राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग किसी राष्ट्र द्वारा केवल अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करने के लिए ही नहीं किया जाता है, बल्कि कभी–कभी वह इसका दुरुपयोग करके अपने निर्णयों को जबरदस्ती अन्य राष्ट्रों पर लागू करने की कोशिश करता है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा राष्ट्रीय शक्ति की निम्नलिखित परिभाषाएं दी गयी है–

- स्टोसिंजर के अनुसार– "अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति 'एक राष्ट्र की अपने मूर्त और अमूर्त संसाधनों का इस तरह से उपयोग करने की क्षमता है, जिससे अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित किया जा सके'।"
- पैडेलफोर्ड और अब्राहम लिंकन के अनुसार– "राष्ट्रीय शक्ति एक राज्य की उस शक्ति और सामर्थ्य का योग है, जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपयोग में लाता हैं।"
- होलस्टी ने राष्ट्रीय शक्ति को राज्य की उस सामान्य क्षमता के रूप में परिभाषित किया है जिसके अंतर्गत वह अन्य राज्य के आचरण को नियंत्रित करता है।
- ऑर्गेन्स्की के अनुसार, "शक्ति अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है। जब तक कोई राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना भी बड़ा या संपन्न क्यों न हो, शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता है।"
- हार्टमैन के अनुसार, "राष्ट्रीय शक्ति एक राष्ट्र के राष्ट्रीय लक्ष्यों के पूर्ति की क्षमता को दर्शाता है। यह हमें बताता है की कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों सुरक्षा के लिए कितना शक्तिशाली या कमजोर है।"
- मार्गेथाऊ ने शक्ति को 'मनुष्यों द्वारा दूसरे के मस्तिष्क और कार्यों पर नियंत्रण' के रूप में परिभाषित किया गया।

  मॉर्गेथाऊ के अनुसार, "राजनीतिक शक्ति उन लोगों के बीच एक मनोवैज्ञानिक संबंध है जो इसे प्रयोग करते हैं और जिन पर इसका प्रयोग किया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है की विभिन्न विद्वानों ने शक्ति की अवधारणा की व्याख्या मुख्य रूप से एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को नियंत्रित व प्रभावित करने की क्षमता के रूप में की है। किंतु यह शक्ति संकल्पना बल प्रयोग पर भी आधारित है। बिना बल प्रयोग के इसे लागू करना संभव नहीं है।

राष्ट्रीय शक्ति की यथार्थवादी धारणा

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति को सर्वाधिक महत्व यथार्थवादी सिद्धांतकारों द्वारा दिया गया है। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को अराजक मानते हुए प्रत्येक राष्ट्र

टिप्पणी

को शक्ति के लिए संघर्षरत माना है। हांस जे मार्गेथाऊ जो यथार्थवादी सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक हैं, उन्होंने शक्ति के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली तर्क देते हुए कहा अंतरराष्ट्रीय राजनीति सभी राजनीतियों की भांति शक्ति के लिए संघर्ष है। उनके अनुसार शक्ति में वह सब कुछ सम्मिलित किया जा सकता है, जो कि मनुष्य पर मनुष्य का नियंत्रण स्थापित करता है तथा उस नियंत्रण को बनाए रखता है। इसमें वे सभी संबंध सम्मिलित हैं, जो कि इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायक होते हैं। अतः मार्गेथाऊ ने इसमें शारीरिक शक्ति से लेकर मनोवैज्ञानिक बंधनों तक को शामिल किया है, जिसके द्वारा एक राष्ट्र या व्यक्ति दूसरे राष्ट्र या व्यक्ति पर नियंत्रण स्थापित करता है। यथार्थवादी सिद्धांतकार ई. एच. कार ने राष्ट्रीय शक्ति को तीन श्रेणियों में विभाजित किया। आर्थिक शक्ति, सैन्य शक्ति, और जनमत की शक्ति। उनके अनुसार सैन्य शक्ति का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अंतिम उपाय के तौर पर किया जाता है जबकि आर्थिक शक्ति का उपयोग कच्चे माल, निवेश और बाजार आदि को नियंत्रित करने हेतु किया जाता है। जनमत की शक्ति राष्ट्रीय मनोबल के निर्माण, नेतृत्व व मनोवैज्ञानिक युद्ध को सम्मिलित करती है। कैनेथ वाल्ट्ज़ जैसे नव यथार्थवादी सिद्धांतकार शक्ति धारणा को आगे बढ़ाते हुए राष्ट्रीय शक्ति में जनसंख्या, देश का आकार संसाधन, नेतृत्व क्षमता, राजनैतिक स्थिरता इत्यादि को सम्मिलित किया। अतः नवयथार्थवादियों ने राष्ट्रीय शक्ति के साथ सामर्थ्य को भी शामिल किया।

राष्ट्रीय शक्ति के बारे में निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान देना आवश्यक है –

1. अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति के प्रयोग हेतु दो या दो से अधिक राष्ट्रों का होना आवश्यक है। इसकी कल्पना वातावरण की शून्यता में नहीं की जा सकती है।
2. शक्ति सम्बन्ध केवल दो प्रतिद्वंदी राष्ट्रों के बीच ही नहीं पाए जाते हैं, बल्कि सहयोगी राष्ट्रों के बीच भी देखे जा सकते हैं।
3. कभी कभी तटस्थ राष्ट्र– राज्यों के बीच भी शक्ति का उपयोग किया जाता है।
4. शक्ति विभिन्न राष्ट्रों के मध्य के सापेक्ष संबंध की स्थिति है।
5. इसकी प्रकृति गतिशील है। शक्ति के अलग अलग प्रकार और रूप हो सकते हैं जैसे– आर्थिक, सैन्य, मनोवैज्ञानिक और तकनीकी शक्ति।

इस प्रकार राज्यों के शक्ति का स्तर विश्व राजनीति के अभिकर्ताओं के बीच उनकी असाधारण और महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है, क्योंकि अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना में किसी राष्ट्र की स्थिति उसकी शक्ति क्षमता पर निर्भर करती है।

2.2.2 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

किसी भी राष्ट्र या देश की राष्ट्रीय शक्ति कई तत्वों पर निर्भर करती है, जिन्हें राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारक तत्व या अवयय भी कहा जाता है। कोई भी एक तत्व राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण नहीं करता है, बल्कि कई कारकों से मिलकर राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण होता है। कुछ तत्व निरंतर परिवर्तनशील होते हैं जबकि कुछ तत्व अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के कुछ तत्व हैं जिनका मापन संभव हैं, जबकि कुछ का मापन संभव

नहीं है। उनका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का विवरण निम्नलिखित है–

1) भू–भाग (भूगोल)

टिप्पणी

भू–भाग या भूगोल किसी राष्ट्र–राज्य की राष्ट्रीय शक्ति को निर्धारित करने वाला एक आधारभूत तत्व है जो प्रायः स्थाई और परिवर्तनशील होता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसे भू–राजनीतिक के नाम से भी जाना जाता है। इसके अंतर्गत किसी राष्ट्र का आकार, अवस्थिति, जलवायु, स्थलाकृति और सीमाएं आदि को सम्मिलित किया जाता है। यह सभी कारक किसी राष्ट्र की विदेश नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं:

(i) **आकार :**

- देश का आकार उसे अन्य देश की तुलना में अधिक शक्तिशाली बनाने की सामर्थ्य रखता है। अमेरिका, चीन, रूस जैसे देश इसका उदाहरण है।
- एक राष्ट्र का विशाल आकार उस देश को पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध करा सकता है और अधिक आबादी को संभाल सकता है।
- विशाल आकार से एक राष्ट्र युद्ध के समय अपनी सुरक्षा स्थिति को और अधिक सुदृढ़ करने में सक्षम होता है, क्योंकि वह युद्ध के दौरान पराजित होने पर अपनी सीमा से पीछे हटने के बाद भी बचे हुए क्षेत्र में पुनः रणनीति बनाकर युद्ध की तैयारी कर सकता है।
- आकार का यह भी लाभ होता है कि एक राष्ट्र अपने उद्योग धंधों को सीमावर्ती क्षेत्रों से दूर देश के विभिन्न भागों में स्थापित कर सकता है, ताकि किसी युद्ध जैसी स्थिति होने पर उद्योग धंधों को क्षति नहीं पहुंचाई जा सके। हालांकि आज आर्थिक और तकनीकी प्रगति ने इसमें परिवर्तन ला दिया है।

(ii) **अवस्थिति :**

- किसी राष्ट्र की भौगोलिक अवस्थिति भी उसकी शक्ति की अभिवृद्धि या कमी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उदाहरण के लिए कुछ विद्वानों का तर्क है संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी स्थिति के कारण ही प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अन्य राष्ट्रों की तुलना में कम सम्मिलित रहा और इसका प्रभाव भी उस पर कम पड़ा।
- इसी प्रकार जिन देशों की सामुद्रिक सीमा का विस्तार अधिक होता है, उनके पास एक सशक्त नौसेना होती है, जो उन्हें सामुद्रिक शक्ति बनाती है।
- कनाडा की स्थिति अमेरिका जैसी महाशक्ति के समीपवर्ती राष्ट्र होने के कारण इतनी प्रभावशाली नहीं रही है, जितनी हो सकती थी।
- कुछ राष्ट्र जो दो शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य अवस्थित होते हैं उनकी भूमिका भी रणनीतिक रूप से बढ़ जाती है। प्रायः यह राज्य बफर राज्य कहलाते हैं। भारत और चीन के मध्य नेपाल भी एक बफर राज्य का उदाहरण है।

टिप्पणी

(iii) **जलवायु :**

- जलवायु भी एक ऐसा भौगोलिक कारक है जो किसी राष्ट्र के राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण करता है। यदि किसी राष्ट्र की जलवायु विषम है, तो उस राष्ट्र के शक्तिशाली बनने के मार्ग में कठिन चुनौतियां होती हैं।
- अधिक रेगिस्तान, बर्फीले क्षेत्र या उच्च तापमान वाले क्षेत्र जनसंख्या, कृषि, और उद्योग धंधे इत्यादि के फलने फूलने के मार्ग में बाधक होते हैं।
- राष्ट्रीय शक्ति के लिए उपयुक्त जलवायु का होना आवश्यक है। हालांकि वर्तमान में विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने इस चुनौती को कम करने का काम किया है।

(iv) **स्थलाकृतिः**

- भौगोलिक तत्व के अंतर्गत किसी राष्ट्र की स्थलाकृति का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह किसी राष्ट्र की प्राकृतिक सीमा का निर्धारण करने में सहायता करती है।
- पर्वतों या समुद्रों से गिरे हुए देश अधिक सुरक्षित माने जाते हैं। अटलांटिक और प्रशांत महासागर ने अमेरिका को, इंग्लिश चैनल ने इंग्लैंड को, और हिंद महासागर अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी की भारत को सुरक्षित करने में अहम भूमिका मानी जाती है।
- पेनीस पर्वत स्पेन के लिए और हिमालय पर्वत भारत के लिए सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।
- स्थलाकृति से राष्ट्र की प्राकृतिक विस्तार की अधिकतम सीमा निश्चित होती है।

(v) **सीमाएंः**

- राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से किसी राष्ट्र की स्पष्ट रूप से निर्धारित और अच्छी तरह परिभाषित सीमाएं हुई अहम मानी जाती हैं।
- सीमा पर विवाद और संघर्ष दो राष्ट्रों के मध्य के संबंधों और विदेश नीति को महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित करते हैं।
- भारत का पाकिस्तान और चीन के साथ सदैव चलने वाला सीमा विवाद इन राष्ट्रों के साथ भारत के संबंधों और विदेश नीति के निर्धारण में अहम भूमिका निभाता रहा है। ऐसा ही एक और उदाहरण अरब–इजराइल संघर्ष भी है।

इस प्रकार ये सभी भौगोलिक कारक राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारण में अहम भूमिका निभाते हैं। हालांकि वैश्वीकरण, तकनीकी, आर्थिक प्रगति, परमाणु अस्त्र और खुफिया उपकरणों के विकास ने भौगोलिक कारकों की राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारण में भूमिका को सीमित करने का कार्य किया है किंतु फिर भी भूगोल या भू–भाग राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण अवयय है।

2) प्राकृतिक संसाधन

टिप्पणी

एक राष्ट्र में प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता और संपन्नता का होना भी राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। किसी राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों के अंतर्गत खाद्यान्न, भूमि, जल, वन–संपदा, और खनिज पदार्थ जैसे– लोहा, कोयला, कच्चा तेल (पेट्रोलियम), प्राकृतिक गैस, यूरेनियम, थोरियम इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अरब देशों की महत्वपूर्ण स्थिति का कारण वहां कच्चे तेल के विशाल भंडार की उपलब्धता है। हालांकि, उसके बाद भी यह राष्ट्र महाशक्ति नहीं बन पाए। उसका कारण वैज्ञानिक और तकनीकी शक्ति के अभाव में कच्चे तेल का अन्वेषण, शोधन, विक्रय की क्षमता का कम होना रहा है। इन देशों पर अमेरिका जैसी महाशक्ति का प्रभाव बना हुआ है। वर्तमान में सेंट्रल एशिया की राष्ट्रों में प्राकृतिक गैस और यूरेनियम, थोरियम जैसे खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, जो परमाणु ऊर्जा के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी कारण से विश्व की महाशक्तियां जैसे– अमेरिका, रूस और चीन उन राष्ट्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ में लगी हुई हैं, जिससे वे उन राष्ट्रों के प्राकृतिक संसाधनों का अपने लाभ के लिए का दोहन कर सके क्योंकि यह खनिज पदार्थ सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

खनिज पदार्थों के अलावा खाद्यान्न भी राष्ट्रीय शक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है। इसलिए मार्गेथाऊ ने भी कहा था खाद्यान्न में आत्मनिर्भर राष्ट्र, बेहतर स्थान पर है उन राष्ट्रों के मुकाबले जो दूसरे राष्ट्रों से खाद्यान्न का आयात करते हैं। चीन, अमेरिका और इंडिया सर्वाधिक खाद्यान का उत्पादन करने वाले देश है।

3) जनसंख्या

भूगोल और प्राकृतिक संसाधनों की भांति किसी राष्ट्र की जनसंख्या भी राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। जनसंख्या का आकार किसी राज्य की आर्थिक और सैन्य क्षमता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। चीन इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसने अपनी विशाल जनसंख्या का लाभ उठाते हुए, अपनी जनसंख्या को विभिन्न आर्थिक और वैज्ञानिक गतिविधियों में लगाकर आर्थिक विकास को तीव्र गति दी। हालांकि तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति ने जनसंख्या के महत्व को कम करने का कार्य किया है। जहां कुछ विद्वान यह मानते हैं कि एक विशाल जनसंख्या के बिना एक बड़ी शक्ति विशेष रूप से महाशक्ति बनने की कल्पना करना मुश्किल है, वहीं दूसरी तरफ बहुत से विशेषज्ञ यह मानते हैं कि यह मानना गलत है कि जनसंख्या का आकार जितना विशाल होता है, राज्य की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। ब्रिटेन की जनसंख्या भारत और चीन जैसे देशों की तुलना में कम होते हुए भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक लंबे समय तक इसका प्रभाव महत्वपूर्ण बना रहा है।

यह सच है कि पर्याप्त जनसंख्या के बिना युद्ध का सफल संचालन और औद्योगिक संयंत्रों की स्थापना करना और संचालन करना असंभव है। राष्ट्रीय शक्ति के भौतिक कार्यान्वयन को बनाने और लागू करने के लिए पर्याप्त जनसंख्या के बिना एक राष्ट्र महाशक्ति नहीं बन सकता है। यद्यपि जनसंख्या का राष्ट्रीय शक्ति के रूप में महत्व उसके शिक्षा और स्वास्थ्य का स्तर, जनसंख्या की आयु– वर्ग, जीवन प्रत्याशा, क्षेत्रीय वितरण, पेशेवर संरचनाएं, प्रशिक्षण आदि कारकों पर निर्भर करता है। विकासशील देशों

के पास पर्याप्त जनसंख्या होते हुए भी वे शक्तिशाली राष्ट्र इन्हीं कारकों की वजह से नहीं बन पाए हैं। इसीलिए पामर एंड पर्किन्स ने कहा है कि, आधुनिक विश्व में बड़ी जनसंख्या एक राष्ट्र की कमजोरी या शक्ति का स्रोत हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि एक राज्य अपनी मानव संसाधन का कितनी कुशलता से प्रयोग करता है।

टिप्पणी

4) आर्थिक और तकनीकी विकास

वर्तमान में आर्थिक और तकनीकी विकास राष्ट्रों के राष्ट्रीय शक्ति का आवश्यक तत्व बनता जा रहा है। उदारीकरण और वैश्वीकरण के बढ़ते प्रभावों के कारण आर्थिक और तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र आर्थिक सहायता या आर्थिक प्रतिबंधों के द्वारा अन्य राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं।

तकनीकी विकास ने पिछले कुछ दशक में विश्व राजनीति पर प्रभाव छोड़ा है। तकनीकी के विकास और नवीनीकरण ने देशों की सुरक्षा, सूचना एवं संचार, यातायात, उद्योगों, कृषि उत्पादन व्यवस्था, स्वास्थ्य, इत्यादि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन और सुधार किया है। इसीलिए रॉबर्ट हिल ब्रूनर का मानना है कि आधुनिक समय की सबसे बड़ी विशेषता तकनीकी है। तकनीकी विकास ने युद्ध के तरीके और मायने को भी बदल दिया है। अमेरिका, रूस, जापान जैसे देश तकनीकी विकास के कारण ही एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पहचाने जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अगर तकनीकी की बात करें तो तकनीकी में विशेष रूप से सैन्य तकनीकी, सूचना एवं संचार तकनीकी, और औद्योगिक तकनीकी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

5) सैन्य क्षमता और सुरक्षा

सैन्य क्षमता का किसी भी राष्ट्र के राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, जो किसी राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्र की ताकत और क्षमता का वर्णन करती है। सैन्य क्षमता के अंतर्गत सैनिकों की संख्या और प्रशिक्षण, अस्त्र–शस्त्रों की संख्या और उसकी गुणवत्ता, सैन्य प्रौद्योगिकी, युद्ध के तरीके, विकसित खुफिया तंत्र इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका को सैन्य क्षमता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वर्तमान में परमाणु शस्त्रों और अंतर महाद्वीपीय मिसाइल प्रौद्योगिकी के आगमन ने शक्ति के समीकरणों को पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया है।

6) राष्ट्रीय मनोबल

किसी राष्ट्र का मनोबल उसकी राष्ट्रीय शक्ति का सूक्ष्म किंतु प्रभावशाली तत्व है। राष्ट्रीय मनोबल से तात्पर्य किसी राष्ट्र के सामूहिक मानसिक दृष्टिकोण से हैं, जिससे युद्ध और शांति की स्थिति में कोई राष्ट्र अपने सरकार की नीतियों के समर्थन के प्रति दृढ़ संकल्प होता है। एक राष्ट्र का मनोबल जितना ही उच्च होगा वह राष्ट्र अपनी नीतियों को उतने ही प्रभावशाली ढंग से लागू कर सकेगा। राष्ट्रीय संकट के समय में भी यह देखा जाता है जिस देश का मनोबल जितना ऊंचा होता है, वह देश उतनी ही सफलता के साथ संकटों का सामना करने में समर्थ होता है। राष्ट्र का यह मनोबल राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर जनमत के द्वारा प्रकट होता है।

7) विचारधारा

विचारधाराओं ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति के घटक तत्व के रूप में एक अहम भूमिका अदा की है। बर्टन रसल ने अपनी पुस्तक "पावर ए न्यू सोशल एनालिसिस" में शक्ति के वैचारिक तत्व पर विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। शीत–युद्ध काल में साम्यवादी और पूंजीवादी विचारधारा ने संपूर्ण विश्व को दो खेमे में विभाजित कर दिया था। विचारधारा राष्ट्र और राष्ट्रों से बाहर के लोगों को एकजुट करने का कार्य करती है। कभी–कभी विचारधाराएं विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्यों को ढकने के लिए एक आवरण प्रदान करने का कार्य करती हैं। उदारवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद, साम्राज्यवाद और लोकतंत्र जैसी विचारधाराओं ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा है।

टिप्पणी

8) नेतृत्व

किसी भी राष्ट्र के लिए नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। कोई देश कितना ही तकनीकी, आर्थिक और सैन्य दृष्टि से विकसित क्यों ना हो किंतु जब तक एक सशक्त नेतृत्व नहीं होगा, तब तक वह राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अपना प्रभुत्व और शक्ति स्थापित नहीं कर पाएगा। नेतृत्व किसी राष्ट्र के लिए युद्ध और शांति दोनों ही अवस्थाओं में महत्वपूर्ण होता है। किसी भी देश की विदेश नीति और नीति निर्माण उस देश के नेतृत्व के व्यक्तित्व, मूल्य, और विश्वास से प्रभावित होते हैं। जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी का नेतृत्व इसका उदाहरण है। इसी प्रकार चीन में माओ और सोवियत संघ में लेनिन, स्टालिन और गोर्बाचोव जैसे नेताओं के व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी नीतियों पर व्यापक रूप से देखा गया है।

राष्ट्रीय शक्ति के उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त बहुत सारे अन्य तत्व भी हैं, जैसे– राष्ट्रीय चरित्र, कूटनीति, शासन संरचना और औद्योगिक विकास इत्यादि जिनसे किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण होता है। इस प्रकार कोई एक तत्व अकेले राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण नहीं करता है, अपितु यह सभी तत्व एक दूसरे पर निर्भर हैं और मिलकर किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण करते हैं। राष्ट्रीय शक्ति एक तुलनात्मक संकल्पना है जो हमेशा किसी और राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में ही मापी जा सकती है।

2.2.3 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति निसंदेह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसके संवर्धन और विस्तार में सभी राष्ट्र लगे रहते हैं किंतु उनकी शक्ति पूर्ण या असीमित नहीं है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्यों की इस शक्ति को सीमित करने हेतु कई व्यवस्थाएं की गई है। यह व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं–

1) **शक्ति संतुलन**– यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राष्ट्रीय शक्ति का प्रबंधन और शक्ति का परिसीमन होता है। शक्ति संतुलन उस व्यवस्था का नाम है, जिसमें अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में कई शक्तियां अस्तित्व में होती हैं, जो एक दूसरे राष्ट्र की शक्ति को सीमित करने का कार्य करती हैं जिससे कोई एक राष्ट्र असीमित रूप से शक्तिशाली नहीं बनने पाता है। क्रिस्टोफर लेने के अनुसार, "अंतरराष्ट्रीय

टिप्पणी

राजनीति में महाशक्तियां एक दूसरे के खिलाफ संतुलन बनाए रखती हैं, क्योंकि संरचनात्मक बाधाएं उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है।

2) **अंतरराष्ट्रीय कानून**– अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने का कार्य करते हैं। यह नियमों की एक व्यवस्था के रूप में राष्ट्र राज्यों पर बाध्यकारी रूप में लागू होते हैं। वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय कानूनों का दायरा और प्रभाव में वृद्धि हुई है। हालांकि राष्ट्र की शक्ति को सीमित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय कानून की व्यवस्था को एक लचीली व्यवस्था समझा गया क्योंकि राष्ट्र–राज्य एक संप्रभु निकाय हैं। अतः उन पर बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग संभव नहीं है। किंतु वर्तमान में बहुत से राष्ट्र पर अंतरराष्ट्रीय कानूनों के द्वारा उनकी शक्ति को सीमित करने का कार्य हुआ है।

3) **अंतरराष्ट्रीय नैतिकता**– अंतरराष्ट्रीय कानूनों की तरह अंतरराष्ट्रीय नैतिकता भी राष्ट्र राज्यों के व्यवहार और शक्ति को नियंत्रित और निर्देशित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। अंतरराष्ट्रीय नैतिकता से तात्पर्य नैतिक मूल्यों और मानदडों के समुच्चय से है, जिन्हें अंतरराष्ट्रीय समाज द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। भले ही ये नैतिक मूल्य कही संहिताबद्ध नहीं किये गए हैं, ना ही बंधनकारी हैं, लेकिन फिर भी पवित्र माने जाते हैं। शांति, सद्भाव, विश्वबंधुत्व, आपसी सम्मान और समानता आदि नैतिक मूल्य आज भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के ऊपर अंकुश का कार्य करते हैं।

4) **अंतरराष्ट्रीय जनमत**– वर्तमान में सूचना–तकनीकी के बढ़ते विस्तार ने विश्व में सूचनाओं के आदान –प्रदान को सुगम करने के साथ ही किसी मुद्दे पर विश्व के लोगो की राय की अभिव्यक्ति को सुगम बनाने का कार्य किया है। अतः आज कोई राष्ट्र अपनी मनमानी करता है, तो उसे अंतरराष्ट्रीय जनमत के विरोध का सामना करना पड़ सकता है। इसीलिए कोई भी महाशक्ति अपनी किसी भी राजनीतिक कार्यवाही से पहले विश्व के जनमत को अपने अनुकूल बनाएं रखने के लिए प्रयास करती है, चाहे वह अमेरिका द्वारा सीरिया से आईएसआईएस का खात्मा करना हो या इराक में सद्दाम हुसैन का तख्तापलट करना हो। वियतनाम के युद्ध के समय अमेरिका को प्रतिकूल अंतरराष्ट्रीय जनमत का सामना करना पड़ा था, जिसने अमेरिकी सैनिकों के मनोबल को कम करने का कार्य किया था।

5) **अंतरराष्ट्रीय संगठन** – संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी एजेंसियां अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य शक्ति के बढ़ते प्रसार पर रोक लगाने के लिए स्थापित की गयी हैं। अपनी गतिविधियों के माध्यम से यह अंतरराष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्रों की शक्ति की जांच और उन्हें संतुलित करने का कार्य करती करती है।

ये सभी व्यवस्थाएं शक्ति के अनियंत्रित विस्तार और प्रयोग पर अंकुश लगाने और परिसीमन का कार्य करती हैं ताकि कोई एक राष्ट्र अपने शक्ति का मनमाना प्रयोग न कर सके। यद्यपि कई बार राष्ट्रों ने अपनी शक्ति का दूसरे राष्ट्रों के संदर्भ में दुरुपयोग किया है, फिर भी विश्व शांति और युद्धों को रोकने के लिए राष्ट्रीय शक्ति पर सीमाएं होना आवश्यक है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. यथार्थवादी सिद्धांतकार ई.एच.कार ने राष्ट्रीय शक्ति को कितनी श्रेणियों में विभाजित किया है?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

2. अंतरराष्ट्रीय राजनीति में किस राष्ट्र को सैन्य क्षमता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है?

   (क) रूस (ख) जापान

   (ग) संयुक्त राज्य अमेरिका (घ) भारत

टिप्पणी

2.3 शक्ति प्रबंधन

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रत्ययों में से एक है जिसके आधार पर राष्ट्र–राज्यों के व्यवहार निर्दिष्ट किये जाते हैं। सभी राष्ट्र–राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से शक्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए मार्गेथाऊ ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के संघर्ष के रूप में परिभाषित किया है। राष्ट्र–राज्यों के मध्य का यही शक्ति संघर्ष, शक्ति प्रबंधन की अवधारणा का मूल है क्योंकि इस अराजक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में कुछ राष्ट्र ऐसे भी होते है जो शक्ति के साथ शांति की भी कामना करते हैं।

शक्ति प्रबंधन के उपायों या उपकरणों के माध्यम से ही इस अंतरराष्ट्रीय अराजक व्यवस्था में शक्ति के असंतुलन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है। इसमें शक्ति संतुलन व्यवस्था पारम्परिक रूप से शक्ति प्रबंधन का सबसे प्रमुख उपकरण या युक्ति है। शक्ति प्रबंधन के दो आधारभूत पहलू ये हैं–

2.3.1 शक्ति संतुलन

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में प्रबंधरहित शक्ति का संघर्ष युद्ध का कारण बन सकता है। इस प्रकार की धारणा को सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हुई और इसी विचार ने शक्ति प्रबंधन के कुछ उपकरणों के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया। ऐसा ही शक्ति प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण उपकरण शक्ति संतुलन का सिद्धांत है। वास्तव में, शक्ति संतुलन परंपरागत रूप से अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। यह राष्ट्रों के निर्णयों और नीतियों का मार्गदर्शन करता रहा है। सत्रहवीं शताब्दी के बाद कई विद्वान इसे युद्ध में सम्मिलित हुए बिना राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए सबसे अच्छा मार्गदर्शक मानते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वाध तक, शक्ति संतुलन को शक्ति के अंतरराष्ट्रीय प्रबंधन का एकमात्र ज्ञात आधुनिक उपकरण माना जाता था। पामर और पर्किन्स ने भी मन है कि शक्ति संतुलन का सिद्धांत "अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक बुनियादी सिद्धांत" रहा है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संतुलन का सिद्धांत यह दावा करता है कि एक राज्य की शक्ति पर सबसे प्रभावी नियंत्रण अन्य राज्यों की शक्ति है। शक्ति संतुलन का

सिद्धांत बल देता है कि जब एक राज्य या गठबंधन अपनी शक्ति बढ़ाता है या इसे अधिक आक्रमक तरीके से लागू करता है; तो धमकी वाले राष्ट्र–राज्यों ने प्रत्युत्तर में गठबंधन बनाकर अक्सर प्रतिक्रिया में अपनी शक्ति का प्रयत्न करते हैं। 1648 की वेस्टफेलिया की शांति संधि ने राष्ट्र–राज्य व्यवस्था को जन्म दिया और उसी समय से ही शक्ति संतुलन सिद्धांत के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

टिप्पणी

सत्रहवीं शताब्दी में हैब्सबर्ग राजवंश, जिसने ऑस्ट्रिया और स्पेन पर शासन किया, ने यूरोप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की धमकी दी। इसके फलस्वरूप तीस साल के युद्ध (1618–1648) के दौरान, एक गठबंधन जिसमें स्वीडन, इंग्लैंड, फ्रांस और नीदरलैंड शामिल थे, ने हैब्सबर्ग साम्राज्य के शासकों को हराया। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, फ्रांसीसी सम्राट नेपोलियन ने यूरोप के बड़े क्षेत्रों को जीतने के लिए बार–बार प्रयास किए। जिसकी वजह से ब्रिटेन, रूस, ऑस्ट्रिया और पर्सिया सहित यूरोपीय राज्यों के एक व्यापक गठबंधन ने फ्रांस के साथ हुई प्रमुख युद्धों की एक श्रृंखला द्वारा हराया और अंत में 1815 में वाटरलू की लड़ाई में नेपोलियन बौनापार्टा की पराजय हुयी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रिया, प्रशा, और रूस के मध्य एक लचीला गठबंधन अंतराष्ट्रीय राजनीति में विद्यमान रहा जिसने यह सुनिश्चित किया कि मुट्ठी भर महान शक्तियां सह–अस्तित्व में होंगी, जिनमें से कोई भी दूसरों पर हावी नहीं हो सकेगा। इस प्रणाली के तहत और ब्रिटेन के द्वारा एक संतुलनकारी शक्ति की भूमिका निभाते हुए, उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में शांति काफी हद तक बनी रही।

इस प्रकार अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी को शक्ति संतुलन का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति सदैव परिवर्तनशील है। बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्धों ने शक्ति के संतुलन की गुंजाइश और उपयोगिता को फीका कर दिया। विश्व ने युद्धों को रोकने और शांति की रक्षा करने के लिए एक और नयी रणनीति की तलाश शुरू कर दी जिसे सामूहिक सुरक्षा के नाम से जाना जाता है।

शक्ति संतुलन की परिभाषा

शक्ति संतुलन सिद्धांत की कोई सटीक परिभाषा देना बहुत मुश्किल है। इसे अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग तरीके से परिभाषित किया है। कुछ लेखकों ने इसे संतुलन के संदर्भ में परिभाषित किया है, वहीं कुछ अन्य लोगों ने "प्रधानता" या "असमानता" के संदर्भ में। कुछ इसे कार्रवाई के सिद्धांत के रूप में परिभाषित करते हैं जबकि अन्य इसे एक नीति या प्रणाली के रूप में परिभाषित करते हैं। इनिस एल क्लाउड भी कहते है कि 'शक्ति संतुलन के साथ परेशानी यह नहीं है कि इसका कोई अर्थ नहीं है, बल्कि इसके कई अर्थ हैं'। इसी प्रकार मार्टिन राइट ने भी कहा कि शक्ति संतुलन की धारणा कुख्यात भ्रम से भरी है।

हालांकि, शक्ति संतुलन का मूल विचार बहुत सरल है, अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अस्थायी गठबंधनों और प्रतिकारी दबावों के माध्यम से किसी भी शक्ति या शक्तियों के संयोजन को इतना अधिक बढ़ाने की अनुमति नहीं दी जाएगी ताकि अन्य राष्ट्रों की सुरक्षा को खतरा हो। एक सिद्धांत के रूप में, शक्ति संतुलन यह भविष्यवाणी करता है कि अंतरराष्ट्रीय शक्ति और स्थिति में तेजी से बदलाव, विशेष रूप से एक राज्य द्वारा एक क्षेत्र को जीतने के लिए प्रयास अन्य राष्ट्रों को इसके विरुद्ध प्रतिकार कार्यवाहियों

के लिए उत्तेजित करता है। इस कारण से, संतुलन की प्रक्रिया कायम रहती है जो राज्यों के बीच संबंधों की स्थिरता को बनाए रखने में मदद करती है।

शक्ति संतुलन की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

- जॉर्ज स्वार्जनबर्गर के अनुसार– 'शक्ति संतुलन एक साम्यावस्था या शक्ति संबंधों में स्थिरता की एक निश्चित मात्रा है, जो अनुकूल परिस्थितियों में राज्यों के गठबंधन या अन्य उपकरणों द्वारा प्राप्त होती है'।
- सिडनी बी. फे. के अनुसार – शक्ति संतुलन की व्यवस्था राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों के बीच शक्ति की एक ऐसी 'न्यायपूर्ण साम्यावस्था' है, जो कि किसी एक राष्ट्र को इतना अधिक शक्तिशाली बनने से रोकती है की वो अपनी इच्छा को दूसरे राष्ट्रों पर थोप सके।
- इनिस एल क्लाउड के अनुसार– शक्ति संतुलन एक ऐसी प्रणाली है जिसमें कुछ राष्ट्र बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के अपने शक्ति संबंधों को नियंत्रित करते हैं। जैसे कि यह एक विकेन्द्रीकृत प्रणाली है जिसमें सत्ता और नीतियां इकाइयों के हाथ में रहती हैं।
- मार्टिन वाइन ने शक्ति संतुलन के दो अर्थ बताएं है– पहला, 'शक्ति का एक सामान वितरण' और दूसरा 'ऐसी परिस्थितिओं का निर्माण जिसमे कोई शक्ति इतनी शक्तिशाली न हो कि वह दूसरों के लिए खतरा पैदा कर सके'।
- मार्गेथाऊ के अनुसार– प्रत्येक राष्ट्र द्वारा वर्तमान स्थिति को कायम रखने या पूरी तरह परिवर्तित करने के लिए अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है जिसके फलस्वरूप जिस व्यवस्था की आवश्यकता होती वह शक्ति संतुलन की व्यवस्था कहलाती है।

रुमकी बासु (2018) के अनुसार मार्गेथाऊ ने इस शक्ति संतुलन का चार संदर्भों में प्रयोग किया है –

1. विशेष परिस्थिति के लिए निर्धारित नीति के रूप में,
2. शक्ति के लगभग समान वितरण के रूप में,
3. वास्तविक परिस्थिति के रूप में,
4. शक्ति के किसी भी प्रकार से वितरण के रूप में,

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि शक्ति संतुलन की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरीके से व्याख्या की है। किसी ने शक्ति की साम्यावस्था तो किसी ने वितरण और किसी ने स्थायित्व संतुलन के रूप में परिभाषित किया है। अतः शक्ति संतुलन की एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है।

शक्ति संतुलन सिद्धांत के कुछ प्रमुख तत्व और विशेषताएं निम्नलिखित हैं –

- एक राष्ट्र या राष्ट्रों का समूह, जो शक्ति संतुलन का पालन करता है, वह अपने गठबंधनों या संधियों को परिस्थितियों की मांग के अनुसार बदलने के लिए तैयार होता है।

टिप्पणी

- शक्ति संतुलन का सिद्धांत यह मानता है कि किसी भी राष्ट्र को युद्ध में पूरी तरह से समाप्त नहीं किया जाना है।
- युद्ध का उद्देश्य केवल संतुलन के उल्लंघनकर्ता की शक्ति को कमजोर करना है।
- युद्ध के बाद शक्ति व्यवस्था का एक नया संतुलन हासिल किया जाता है।
- शक्ति संतुलन का मूल सिद्धांत यह है कि अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में कहीं भी अत्यधिक शक्ति दूसरों के अस्तित्व के लिए खतरा है।

शक्ति संतुलन सिद्धांत की मुख्य मान्यताएंः

शक्ति संतुलन सिद्धांत की मुख्य मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

- शक्ति संतुलन सिद्धांत का मानना है की अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र राज्य अपने प्रमुख अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए सभी प्रकार से जिसमें युद्ध भी शामिल है, प्रतिबद्ध रहते हैं।
- राज्यों की सापेक्ष शक्ति की स्थिति को निश्चित तौर पर मापा जा सकता है। यद्यपि शक्ति का सही आकलन एक जटिल समस्या है।
- राज्यों के महत्वपूर्ण हितों को खतरा होता है या खतरे की संभावना है ।
- शक्ति संतुलन सिद्धांत मानता है कि "संतुलन" या तो हमलावर राज्य को हमले शुरू करने से रोक देगा या अगर हमला होता है तो पीड़ित को हार से बचाएगा।
- शक्ति के विचारों को ध्यान में रखते हुए राजनेता विदेश नीति के निर्णय समझदारी से लेते हैं।

शक्ति संतुलन की उपर्युक्त व्याख्या और विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि शक्ति संतुलन शक्ति प्रबंधन का एक ऐसा उपकरण है, जिसका प्रयोग शक्तियों द्वारा अपने शक्ति संबंधों में संतुलन रखने के लिए किया जाता है। इस प्रक्रिया में वे अपने शक्ति संबंधों में एक यथास्थिति या साम्यावस्था को कायम रखना चाहते है एवं किसी राष्ट्र–राज्य को इस संतुलन को भंग करने की अनुमति नहीं होती है। यदि कोई राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह इस शक्ति संतुलन व्यवस्था को भंग या इसका उलंघन करने का प्रयास करता है तो अन्य राष्ट्र व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से उलंघनकर्ता के विरुद्ध युद्ध सहित अन्य कारवाई कर सकते है, जिसका उद्देश्य उलंघनकर्ता की शक्ति को कमजोर करना और शक्ति के संतुलन को रखना होता है।

शक्ति संतुलन के प्रकार :

1) **सरल या साधारण शक्ति संतुलन** : जब शक्ति मुख्यतः दो परस्पर राष्ट्रों या राष्ट्र समूहों में विभजित होती है, तो उसे शक्ति का सरल संतुलन कहते है। जैसी शीत युद्ध काल में शक्ति मुख्यतः अमेरिका और सोवियत संघ में विभाजित थी।

2) **जटिल शक्ति संतुलन** : जब राष्ट्र या राष्ट्र समूह एक दूसरे को संतुलित करते रहते हैं तो उसे जटिल या बहुमुखी संतुलन कहते हैं। कभी–कभीं इन संतुलनों के अंदर भी कई उपसंतुलन निर्मित हो जाते है। वर्तमान बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था इसका उदहारण है।

शक्ति संतुलन की विधियां :

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति संतुलन को स्थापित करने और उसे कायम रखने के लिए निम्नलिखित विधियां या तरीके हैं–

1) **क्षतिपूर्ति** : अट्ठारहवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही क्षतिपूर्ति शक्ति संतुलन बनाये रखने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसे क्षेत्रीय मुआवजे के रूप में भी जाना जाता है। इसमें प्रायः राज्यों को किसी क्षेत्र के विलय या विभाजन के लिए मजबूर किया जाता है, जिससे कोई एक राष्ट्र शक्तिशाली न बन जाये और शक्ति का संतुलन कायम रहे। ऑस्ट्रिया, प्रशा और रशिया द्वारा पोलैंड का 1772, 1793 और 1795 में विभाजन क्षतिपूर्ति का उदहारण है जिससे क्षेत्रीय संतुलन बना रहे।

2) **हस्तक्षेप तथा अहस्तक्षेप** : शक्ति संतुलन कायम रखने के लिए हस्तक्षेप का प्रयोग शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा किया जाता है। हस्तक्षेप से तात्पर्य किसी राष्ट्र के आतंरिक मामलों में हस्तक्षेप से है जो एक विशेष वांछित स्थिति को बदलने या बनाए रखने के लिए किया जाता है। शीत युद्ध काल में अमेरिका और सोवियत संघ ने विभिन्न राष्ट्रों पर इसका बार–बार प्रयोग किया। अहस्तक्षेप का प्रयोग छोटे राज्यों द्वारा शक्ति संतुलन और अपने को सुरक्षित करने के लिए किया जाता रहा है। कुछ परिस्थितियों में बड़ी शक्तियां भी इसका प्रयोग करती हैं। अहस्तक्षेप से तात्पर्य तटस्थ रहने से लेकर किसी युद्ध में पूर्ण रूप से सैन्य भागीदारी का न होना तक, कुछ भी हो सकता है।

3) **गठबंधन एवं प्रति गठबंधनः** अंतरराष्ट्रीय राजनीति में गठबंधन शक्ति संतुलन का एक प्रमुख और प्रचलित साधन रहा है। राज्य की ताकत को जोड़ने, या उत्पीड़न को कम करने या कमजोर करने के लिए सैन्य या सुरक्षा संधियों के द्वारा गठबंधन का गठन, अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शक्ति संतुलन बनाए रखने की एक शक्तिशाली विधि रही है। हालांकि, राष्ट्रों के समूह के बीच एक गठबंधन, लगभग हमेशा, विरोधियों द्वारा एक प्रति–गठबंधन की स्थापना की ओर जाता है। इतिहास में ऐसे गठबंधनों और प्रति–गठबंधनों के बहुत से उदाहरण है। नाटो, सीटों, सेंटो, वारसा पैक्ट इत्यादि गठबंधन और प्रति गठबंधनों के ही उदाहरण है।

4) **मध्यवर्ती राज्य** : कई बार दो शक्तियों या प्रतिद्वंदी राष्ट्रों द्वारा शक्ति संतुलन हेतु एक छोटे मध्यवर्ती राज्य को रखा जाता है जिसे बफर या तटस्थ राज्य भी कहते हैं। एक मध्यवर्ती राज्य का प्रमुख कार्य दो शक्तिशाली राष्ट्रों को अलग रखना है और टकराव की संभावना को कम करना है और इस प्रकार संतुलन बनाए रखने में मदद करना है। बड़े राज्यों के द्वारा प्रायः इनका सहयोग और समर्थन पाने के लिए तरह तरह के आर्थिक और सैन्य प्रलोभन दिए जाते हैं। बेल्जियम फ्रांस और नीदरलैंड के बीच, नेपाल भारत और चीन के बीच बफर राज्य के उदहारण हैं।

5) **शस्त्रीकरण और निशस्त्रीकरण** : प्रायः राष्ट्रों विशेषकर शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा अपने शक्ति के अभिवृद्धि और सुरक्षा को मजबूत करने के उद्देश्य से शस्त्रों का संचय और विस्तार किया है। शस्त्रीकरण की यह प्रक्रिया जहां दूसरे प्रतिद्वंदी राष्ट्रों पर दबाव डालने का कार्य करती वही प्रतिक्रिया स्वरुप उन्हें भी

शास्त्रो के विस्तार के लिए प्रेरित करती है जिससे एक शक्ति का संतुलन बना रहे। हालांकि निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण, शक्ति संतुलन का अधिक सकारात्मक तरीका है जो युद्ध के खतरे को कम करके शांति और सुरक्षा को दृढ करता है। साल्ट–I, साल्ट II, स्टार्ट I, स्टार्ट II, आई एन एफ संधि इसका उदहारण है।

टिप्पणी

6) **फूट डालो और राज करो** : फूट डालो और राज करो की नीति भी शक्ति संतुलन की एक विधि रही है। यह विरोधियों को कमजोर करने के लिए प्रयोग की जाती रही है। इसका उपयोग ऐसे सभी राष्ट्रों के लिए किया जाता है जो अपने प्रतियोगियों को विभाजित करके या उन्हें विभाजित करके कमजोर बनाने या बनाए रखने का प्रयास करते हैं। ब्रिटिश द्वारा कई बार इस नीति का प्रयोग किया गया।

इस प्रकार शक्ति संतुलन का सिद्धांत शक्ति प्रबंधन के उपकरण के रूप में अंतरराष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत और व्यवहार में एक केंद्रीय अवधारणा रहा है। इसने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के समकालीन अध्ययन में अंतरराष्ट्रीय राजनीति के एक सिद्धांत को विकसित करने के कुछ सबसे महत्वपूर्ण प्रयासों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसका एक अन्य आधार वैश्विक व्यवस्था की शक्ति और अराजक प्रकृति के संतुलन का विचार है क्योंकि कोई प्रभावी वैश्विक सरकार नहीं है। शक्ति के संतुलन का विचार उस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए रखा गया है जहां राज्य खुद को एक–दूसरे के ऊपर एक प्रभुत्व को रोकने के लिए सहयोग करेंगे। अंतरराष्ट्रीय संबंधों की शक्ति संतुलन सिद्धांत यह दावा करता है कि एक राज्य की शक्ति पर सबसे प्रभावी नियंत्रण अन्य राज्यों की शक्ति ही है।

समकालीन अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति की प्रकृति में परिवर्तन ने शक्ति के वैश्विक संतुलन के संचालन को जटिल बना दिया है। सूचना तकनीकी, वैश्वीकरण, विनाशकारी हथियार, और अन्य तकनीकी विकास ने छोटे राज्यों और यहां तक कि गैर–राज्य समूहों के लिए महत्वपूर्ण शक्ति हासिल करना संभव बना दिया है। ये कारक सैन्य शक्ति के सापेक्ष महत्व को भी कम करते हैं। भविष्य में, शक्ति का संतुलन लंबे समय तक विवादों में लगे राष्ट्र–राज्यों के बीच काम करना जारी रख सकता है, लेकिन यह आतंकवादियों और अन्य गैर–राज्य समूहों से जुड़े संघर्षों पर कम लागू होता है।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति प्रबंधन का एक तरीका है। सामूहिक सुरक्षा का विचार शक्ति संतुलन व्यवस्था के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया था। अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन इसके प्रमुख प्रतिपादक थे जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इसे विकसित करने का कार्य किया। सामूहिक सुरक्षा का मूल इस विचार में निहित है की "एक सभी के लिए, और सभी एक के लिए" अर्थात यदि कोई एक राज्य किसी एक राज्य या राज्यों के समूह पर आक्रमण करता है तो इसका सामना सभी राष्ट्र एकजुट होकर करेंगे। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में किसी राष्ट्र के विरुद्ध आक्रमण को रोकने के लिए एक संयुक्त कार्यवाही का तंत्र है।

2.3.2 प्रतिरोध (डिटेरेंस)

टिप्पणी

प्रतिरोध का सिद्धांत मुख्य रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अर्थात शीत युद्ध काल में विकसित हुआ। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों ने मानव–जाति, प्रकृति और विकास के लिए बड़ी विनाशकारी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जो भविष्य में मुख्य रूप से परमाणु हथियारों के उपयोग करने के बाद आने वाली पीढ़ियों पर भी बुरा असर डालती है। प्रतिरोध (डिटेरेंस) सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति और रणनीतिक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसे युद्ध को होने से रोकने के लिए एक अवरोध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

प्रतिरोध सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आमतौर पर एक राष्ट्र–राज्य द्वारा अवांछित कार्यवाही (जैसे कि सशक्त आक्रमण) करने से किसी राष्ट्र को हतोत्साहित करने या रोक लगाने का प्रयास है। इस प्रकार यह किसी कार्यवाही को रोकने या प्रतिबंधित करने के प्रयासों को सम्मिलित करता है, उस अवधारणा के विपरीत, जो किसी अभिकर्ता को कुछ करने के लिए मजबूर करने का प्रयास करती है। सरल शब्दों में, प्रतिरोध किसी राष्ट्र को कुछ न करने के लिए समझाने की एक कला है।

चार्ल्स डब्लू केगले और यूजीन आर विटकाफ (1989) के अनुसार ' प्रतिरोध एक राज्य की ओर से दूसरे पक्ष (विरोधियों) को युद्ध आरंभ न करने के लिए समझाने का साधन है।'

प्रतिरोध (डिटेरेंस) सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं –

प्रतिरोध सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

- प्रतिरोध सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संबंधों के प्रबंधन को व्यक्त करता है। यह सामंजस्य के बजाय विरोधी संबंधों को प्रकट करता है।
- यह सैन्य रणनीति है, जिसके तहत एक शक्ति, एक प्रतिद्वंद्वी शक्ति के हमले को रोकने के लिए प्रभावी रूप से प्रतिरोध के खतरे का उपयोग करती है।
- यह राज्यों के निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करने के लिए सबसे बड़े मध्यस्थ के रूप में उपयोग किया जाता है।
- एक पक्ष दूसरे पक्ष की कार्यवाही को प्रभावित करने का प्रयास करता है।
- यह एक ऐसी रणनीति है जिसमें राष्ट्रों के आक्रामक व्यवहार पर प्रतिबंध आरोपित किया जाता है।
- प्रतिरोध सिद्धांत शक्तिशाली राष्ट्रों के भय को व्यक्त करने का माध्यम है, जिससे अनपेक्षित खतरे को कम किया जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परमाणु हथियारों के आगमन और विस्तार तथा राष्ट्रों के बीच के गंभीर संघर्षों ने अंतरराष्ट्रीय और आंतरिक सुरक्षा और स्थिरता को बनाए रखने के समक्ष एक प्रमुख चुनौती प्रस्तुत कर दी। राष्ट्र–राज्यों के सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि परमाणु हथियारों के संभावित खतरों से राज्य स्वयं को किस प्रकार सुरक्षित करें। इसलिए सैन्य रणनीति के रूप में प्रतिरोध सिद्धांत का सहारा लिया गया। भले ही परमाणु हथियारों की उपस्थिति के विशेष संदर्भ में इस सिद्धांत का प्रयोग किया

जाता है, किंतु गैर–परमाणु हिंसक सैन्य–संघर्षों का सामना करने और राज्य, समाज और मानवता के विनाश को रोकने के लिए भी प्रतिरोध सिद्धांत प्रयुक्त किया जाता रहा है।

टिप्पणी

शीत युद्ध के समय साम्यवादी ताकतें जैसे– सोवियत संघ और उसके सहयोगी राष्ट्र चीन और उत्तर कोरिया द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके सहयोगी राष्ट्रों के खिलाफ परमाणु हमले से जुड़ी आक्रामकता को रोकने के लिए यह प्रतिरोध की रणनीति तैयार की गयी थी। अमेरिका द्वारा ऐसा प्रदर्शित किया गया कि वह वास्तव में परमाणु हथियारों का प्रयोग कर सकता है। अमेरिका ने अन्य राष्ट्रों के साथ सौदेबाजी कर परमाणु हथियारों के विनाश का आतंक पैदा किया। इस सिद्धांत का प्रयोग 1960 के दशक में मुख्य रूप से क्यूबा मिसाइल संकट की घटना के दौरान देखा गया, जिसके द्वारा विरोधी खेमे के निर्णय को प्रभावित करने का प्रयास किया गया था। क्यूबा संकट के दौरान पहली बार ऐसा प्रतीत होने लगा था कि दो परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्रों के बीच युद्ध हो सकता है।

हालांकि सत्तर के दशक में इसे 'पारस्परिक सुनिश्चित विनाश' की धारणा के रूप में प्रयुक्त किया गया, जिसका अर्थ है कि परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्रों के मध्य युद्ध विनाशकारी होगा जिसमें किसी की जय या पराजय संभव नहीं है। प्रतिरोध सिद्धांत की सबसे बड़ी सफलता यह रही है कि 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध के अंत के बाद से विनाशकारी उद्देश्यों के लिए परमाणु शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः प्रतिरोध सिद्धांत ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में परमाणु युद्ध को अब तक प्रभावशाली तरीके से रोक रखा है। यह शक्ति संतुलन की भांति ही परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्रों के बीच शक्ति प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण तरीका है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के प्रमुख प्रतिपादक कौन थे?

   (क) वुड्रो विल्सन (ख) जॉन टेलर

   (ग) जेम्स मोनेर (घ) अब्राहम लिंकन

4. प्रतिरोध किस युद्ध काल में विकसित हुआ?

   (क) प्रथम विश्व युद्ध (ख) द्वितीय विश्व युद्ध

   (ग) शीत युद्ध (घ) उपरोक्त सभी युद्ध में

2.4 राष्ट्रीय शक्ति का बदलता स्वरूप

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा एक केंद्रीय अवधारणा रही है किंतु शक्ति की यह अवधारणा एक स्थिर अवधारणा नहीं है। राष्ट्रीय शक्ति की कल्पना एक निर्वात या रिक्तता में नहीं बल्कि दूसरे राष्ट्रों के संदर्भ में की जाती है। राष्ट्रीय शक्ति समय तथा विश्व और उसके राष्ट्रों के संबंधों में परिवर्तन के साथ विकसित हुई है। अतः बदलती परिस्थितियों के साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के अर्थ और राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण करने वाले तत्वों में भी परिवर्तन देखा गया है।

19वीं शताब्दी तक परंपरागत महा–शक्तियों इंग्लैंड, फ्रांस, प्रशा, स्पेन और रूस का प्रभुत्व था। प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत में ब्रिटेन एक समुद्री ताकत था, लेकिन दूसरे विश्व युद्ध के करीब आते ही वह दूसरी श्रेणी की शक्ति में सिमट कर रह गया, क्योंकि समुद्री युद्ध का महत्व कम हो गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीतकाल के बदलते समीकरण में अमेरिका और सोवियत संघ दो प्रबलतम शक्तियां बनकर उभरे और 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही देश एक ध्रुवीय विश्व की ओर उन्मुख हुआ जिसमें अमेरिका का प्रभुत्व अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बढ़ने लगा।

टिप्पणी

यदि राष्ट्रीय शक्ति के अभिप्राय के बारे में बात करें तो हम देखते हैं शक्ति को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में परंपरागत रूप से सैन्य क्षमता और आर्थिक क्षमता के रूप में देखा गया जिस पर हमेशा पश्चिमी राष्ट्र के प्रभुत्व को दर्शाया गया है। यद्यपि, सैन्य क्षमता के रूप में पश्चिमी राष्ट्र अभी भी वैश्विक शक्ति के मामले में प्रधान समझे जाते हैं, लेकिन शीत युद्ध के बाद की अवधि में वैश्वीकरण ने शक्ति की धारणा और उसके मार्ग को बदल दिया है। शक्ति अब केवल सैन्य रूप में नहीं देखी जाती है। वर्तमान में सैन्य क्षमता से ऊपर जाकर आर्थिक क्षमता और विकास, मानव संसाधन, तकनीकी प्रगति को भी शामिल किया जा रहा है। आज राष्ट्र–राज्य भविष्य की चुनौतियों से निपटने के लिए साइबरस्पेस, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी और सूचना के आधुनिक एकीकृत प्रणाली जैसी क्षमता हासिल करने का प्रयास कर रहें हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांतों में भी विद्वानों ने शक्ति की बदलते स्वरूप पर ध्यान केंद्रित करना प्रारंभ किया। संरचनावादी सिद्धांतकारो ने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय वातावरण को आकार देने में विचार और चेतना की शक्ति पर बल दिया। विचारों की शक्ति को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिकी आधिपत्य के उदय के कारण लोकतंत्र, शांति, उदारीकरण के विचारों को बढ़ावा देने वाले सरकारी बहुपक्षीय संस्थानों के निर्माण के रूप में लिया गया। इसी प्रकार नवउदारवादी संस्थावादी विचारकों ने अंतर्निर्भरता पर बल देते हुए शक्ति को बिखेर दिया, क्योंकि अब शक्ति बहु–प्रणालियों जिसमे नए अभिकर्ता शामिल है, के माध्यम से कार्य कर रही है। इन्होंने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के पदानुक्रम को समाप्त कर दिया और सैन्य उपयोगिता को भी कम कर दिया।

इसी प्रकार नव–उदारवादी दृष्टिकोण जिसने वैश्वीकरण के विचारों को प्रोत्साहित किया, शक्ति के सिद्धांत में कई और अवधारणाओं को जोड़ा। नव–उदारवाद वैश्वीकरण, बाजार और गैर–राज्य अभिनेताओं पर जोर देता है या उन्हें बढ़ावा देता है। वैश्विक संस्थानों, अंतरराष्ट्रीय शासन और अंतरराष्ट्रीय निगमों के संदर्भ में गैर–राज्य अभिनेताओं के उदय ने शक्ति के अर्थ और समझ को बदल दिया है। उन्होंने राज्य के व्यवहार को कई तरह से प्रभावित करने की क्षमता हासिल कर ली है। इन संस्थाओं और राज्यों के बीच एक शक्ति संबंध है, जो अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में एक नई शक्ति संरचना का निर्माण करता है। इन पर मुख्यतः पश्चिमी राष्ट्रों का प्रभुत्व है जो की तृतीय विश्व के राष्ट्रों को प्रभावित करने के लिए बड़े पैमाने पर इनका प्रयोग करते है। वर्ल्ड बैंक, विश्व व्यापार संगठन, आईएमएफ जैसे वैश्विक संस्थानों और मानवाधिकार आयोगों, अंतरराष्ट्रीय कानूनों और मानवीय आधार पर हस्तक्षेप इत्यादि को बड़े पैमाने पर अंतरराष्ट्रीय राजनीति में पश्चिमी प्रभुत्व के उपकरणों के रूप में देखा जाता है।

टिप्पणी

हालांकि इन विकासों और परिवर्तन का मुख्य वजह वैश्वीकरण है, जिसने पश्चिम को अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में अपना प्रभुत्व बनाए रखने में बहुत मदद की है, लेकिन तीसरी दुनिया के बड़े राज्यों को भी इसका बहुत लाभ हुआ है जिन्हें उभरती अर्थव्यवस्थाओं के रूप में मान्यता दी गई है। उनमें से, कुछ को प्रमुख शक्तियों के रूप में देखा जाता है क्योंकि उन्होंने एक मजबूत अर्थव्यवस्था विकसित की है जो वैश्विक अर्थव्यवस्था की स्थिरता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। चीन, भारत, ब्राजील और मैक्सिको जैसे राष्ट्र–राज्य वैश्विक मामलों में प्रभाव प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन उनका प्रभाव और वृद्धि कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है।

इसके अलावा, समकालीन संदर्भ में, यह अक्सर तर्क दिया जाता है कि तकनीकी प्रगति, युद्ध और आर्थिक बदलाव के साथ–साथ देशों के बीच संबंधों को आकार देने में एक प्रमुख निर्धारक बन गई है। इसे आर्थिक विकास और राष्ट्रीय सुरक्षा को बढ़ावा देने के लिए एक आवश्यक साधन के रूप में देखा जाता है। साइबर युद्ध को राज्य की भविष्य की आवश्यकता के रूप में देखा जा रहा है। विकसित देशों के साथ–साथ उभरती अर्थव्यवस्थाएं विज्ञान और प्रौद्योगिकी में भारी निवेश कर रही हैं। उदाहरण के लिए, भारत और चीन के आर्थिक विकास और जापान की तकनीकी प्रगति ने वैश्विक क्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान और स्थिति में ला दिया है। भारत और चीन के उदय में केंद्रीय या महत्वपूर्ण कारकों में से एक तेजी से तकनीकी प्रगति है। इस प्रकार, शक्ति की धारणा अपनी पारस्परिक समझ से बदलाव के दौर से गुजर रही है। यह वास्तव में, अन्य उभरती गतिशीलता को देखने के लिए महत्वपूर्ण है जो शक्ति की अभिव्यक्तियां भी हैं।

आज शक्ति की प्रकृति में बदलती वैश्विक परिस्थतियों के अनुसार बदलाव आ रहा है। आज अमेरिका से लेकर अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों को भी जो की एक शक्तिशाली सैन्य ताकत हैं, विभिन्न आतंकवादी संगठनों द्वारा चुनौती मिल रही है। अतः कह सकते की वर्तमान में राष्ट्र–राज्य और वैश्विक स्तर पर शक्ति और उसके प्रभाव को नए–नए प्रतिद्वंदियों का सामना करना पड़ रहा है। नए रूपों और नई विशेषताओं को ग्रहण करते हुए राष्ट्रीय शक्ति ने स्वयं को पुनर्निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. 19वीं शताब्दी तक किन परंपरागत महाशक्तियों का प्रभुत्व था?

(क) इंग्लैंड (ख) प्रशा

(ग) स्पेन (घ) उपरोक्त सभी

6. किस दशक में सोवियत संघ का विघटन हुआ?

(क) सन् 1960 (ख) सन् 1970

(ग) सन् 1980 (घ) सन् 1990

2.5 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित

टिप्पणी

राष्ट्रीय हित की अवधारणा अंतरराष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण धारणाओं में एक है। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रत्येक राष्ट्र–राज्यों के मध्य संबंध और वार्तालाप अपने राष्ट्रीय हितों पर मुख्य रूप से आधारित होते हैं। राष्ट्रों द्वारा अपनी विदेश नीति का निर्धारण भी राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। इसलिए राष्ट्रीय हितों को विदेश नीति की आधारशिला भी माना जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में किसी राष्ट्र का राष्ट्रीय हित उस राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है, जिसके कारण प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीय हित के लक्ष्य भिन्न–भिन्न होते हैं।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा का इतिहास और इसका प्रयोग आधुनिक राष्ट्र–राज्य की संकल्पना के विकास के साथ सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इटली और इंग्लैंड में हुआ। अमेरिकी संविधान के लागू होने के बाद 'राष्ट्रीय हित' शब्द का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर अमेरिकी राजनेताओं द्वारा किया जाने लगा। राष्ट्रीय हित की अवधारणा को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए यथार्थवादी सिद्धांत में एक महत्वपूर्ण स्थान मिलता है। यथार्थवाद, जो शक्ति और सुरक्षा जैसे कारकों के निहितार्थ को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में रखता है। यथर्थवादी विद्वानों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिए संघर्ष के रूप में परिभाषित किया। राष्ट्रीय हित को महत्वपूर्ण मानते हुए, इसे शक्ति के संदर्भ में परिभाषित किया। ' यथार्थवाद के प्रमुख सिद्धांतकार हांस मार्गेथाऊ और जॉर्ज केनन, इस विश्वास के साथ शुरू करते हैं कि राष्ट्रीय हित तर्कसंगत नीति निर्धारण के लिए एक विश्वसनीय मार्गदर्शक है क्योंकि यह विदेशी नीतियों के विद्वतापूर्ण विश्लेषण के लिए है।

अपनी पुस्तक "इन डिफेंस ऑफ़ नेशनल इंटरेस्ट" में मार्गेथाऊ ने कहा की किसी राष्ट्र की विदेश नीति का मुख्य मार्गदर्शक राष्ट्रीय हित है। मार्गेथाऊ ने राष्ट्रीय हित को साध्य और साधन दोनों मानते है। उनके अनुसार राष्ट्रीय हित एक राज्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और अन्य सभी चीजों से पहले आता है, इसमें नैतिकता भी शामिल है। यथार्थवाद के अपने "छह सिद्धांतों" में, मार्गेथाऊ ने नैतिकता और राष्ट्रीय हित के बीच राष्ट्रीय हितों को अधिक प्राथमिकता देते है। राष्ट्रीय हित को बनाए रखने के उपकरण इस प्रकार हैं: (क) बल का प्रयोग (ब) राजनय (स) शक्ति संतुलन।

राष्ट्रीय हित का अर्थ :

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार कार्य करते हैं, इसलिए राष्ट्रीय हित के अर्थ को समझना अत्यंत आवश्यक है। हालांकि, राष्ट्रीय हित की अवधारणा भी शक्ति और शक्ति संतुलन की भांति अस्पष्ट है और इसकी परिभाषा करना कठिन है, क्योंकि भिन्न–भिन्न संदर्भ में राष्ट्रीय हित के भिन्न भिन्न अर्थ दिए गए हैं। एक अत्यंत सामान्य अर्थ में राष्ट्रीय हित उन सामान्य और निरंतर प्राप्ति योग्य लक्ष्य और साध्य की ओर इंगित करता है जिसकी प्राप्ति के लिए राष्ट्र प्रयास करते हैं। राष्ट्रीय हित राष्ट्रों की आकांक्षाओं को दर्शाता है। इसका उपयोग वास्तविक नीतियों के कार्यान्वयन और कार्यक्रमों के परिचालन में भी किया जा सकता है। राष्ट्र इसका

उपयोग किसी राजनीतिक कार्यवाही को तर्कसंगत ठहराने या आलोचना के लिए भी किया करते हैं। सभी राष्ट्रों की सरकारें अपने–अपने राष्ट्रीय हितों के द्वारा शासित होती हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रहित को परिभाषित करने का प्रयास किया है जो निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

- चार्ल्स लर्च एवं अब्दुल सईद के अनुसार, "व्यापक दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी प्राप्ति के लिए कोई राष्ट्र, राज्य या सरकार सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं, वह राष्ट्रीय हित कहलाता है।"
- वर्नन वॉन डाईक के अनुसार, "राष्ट्रीय हित से अभिप्राय उन 'मूल्यों, इच्छाओं और हितों से है, जो राज्य एक दूसरे राज्य के परस्पर संबंध में सुरक्षित या प्राप्त करना चाहते हैं। उनके अनुसार 'राष्ट्रीय हित संप्रभु राज्यों की इच्छाएं' हैं, जिन्हें वह अन्य राष्ट्रों के संदर्भ में प्राप्त करना चाहते हैं।"
- जोसेफ फ्रैंकेल ने राष्ट्रीय हित की व्याख्या राष्ट्र की आकांक्षाओं, विदेश नीति के क्रियात्मक व्याख्यात्मक एवं विवादों का निरूपण करने वाले तत्व के रूप में की है।

इस प्रकार राष्ट्रीय हित को उन उद्देश्यों, लक्ष्यों, मांगो और हितों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिन्हें एक राष्ट्र हमेशा दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंधों के संदर्भ में सुरक्षित करने और बनाए रखने का प्रयास करता है। राष्ट्रीय हित की अवधारणा सामान्यतः राष्ट्र की संप्रभुता, आत्मरक्षा, आर्थिक हित और सैन्य सुरक्षा को सम्मिलित करती है।

राष्ट्रीय हित से संबंधित मुख्य बिंदु –

- कोई भी चीज जो किसी राष्ट्र के लिए अच्छी या लाभकारी होती है या जो उसे देती है फायदा देती है वह राष्ट्रीय हित है।
- एक देश का राष्ट्रीय हित समय के साथ परिवर्तित होता रहता है।
- किसी देश का राष्ट्रीय हित उसकी विदेश नीति को निर्धारित करता है।
- देश के नेता अंततः राष्ट्रीय हित को परिभाषित करने के लिए जिम्मेदार होते हैं, हालांकि राज्य का प्रत्येक स्तर राष्ट्रीय हितों निर्धारण में एक या दूसरे तरीके से योगदान देता है।
- प्रत्येक देश का अपना–अपना राष्ट्रीय हित होता है, लेकिन प्रायः सभी देशों के लिए सामान्य सुरक्षा, आर्थिक और वैचारिक हित ही मुख्य होते हैं।

राष्ट्रीय हित का वर्गीकरण

राष्टीय हितों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। राष्ट्रीय हितों को प्रायः दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है – प्राथमिक हित और गौड़ या द्वितीयक हित। प्राथमिक हितों में मुख्य रूप से देश की सुरक्षा और संप्रभुता को शामिल किया जाता है जिसपर कोई राष्ट्र समझौता नहीं कर सकता। जबकि द्वितीयक हित परिस्थितियों

या आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारित होते हैं जिनमें आर्थिक, राजनीतिक हित होते हैं जिनमे राज्य कुछ समझौते भी कर सकते हैं।

थॉमस डब्लू रॉबिंसन ने राष्ट्रीय हितों को छह प्रकारों में विभाजित किया है –

1. **प्राथमिक हित** : प्रत्येक राष्ट्र अपनी क्षेत्रीय अखंडता और सीमाओं को प्रत्येक परिस्थितियों में अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करता है। इन राष्ट्रीय हितों के साथ समझौता नहीं करना चाहता है।
2. **गौड़ हित** : ये प्राथमिक की तुलना में कम महत्वपूर्ण हैं, हालांकि राज्य के अस्तित्व के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं।
3. **स्थायी हित** : ये किसी राष्ट्र–राज्य के अपेक्षाकृत स्थिर और दीर्घकालिक हित को संदर्भित करते हैं और इसमें परिवर्तन धीमी गति से होता है।
4. **परिवर्तनशील हित** : ये एक राष्ट्र के ऐसे हितों की ओर संदर्भित करते हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। ये हित किसी समय में तो बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं, किंतु बदली हुई परिस्थितियां इन्हे निरर्थक या अनावश्यक बना देती हैं । उदाहरण के लिए, अमेरिका के लिए ब्याज शीत के निधन के बाद यूएसएसआर का प्रभाव समाप्त हो गया युद्ध। उदहारण के लिए कभी अमेरिका के लिए रूस को प्रभाव को नियंत्रित करना मुख्य लक्ष्य था किन्तु वर्तमान में चीन के बढ़ते प्रभाव को नियंत्रित करना उसका लक्ष्य बन गया है।
5. **सामान्य हित** : ये उन सकारात्मक स्थितियों को संदर्भित करते हैं जो बड़ी संख्या में राष्ट्रों या कई निर्दिष्ट क्षेत्रों में लागू होते हैं उदाहरण के लिए कूटनीतिक, आर्थिक या व्यापारिक अन्तर्सम्बन्ध।
6. **विशिष्ट हित** : ये सामान्य हितों का तार्किक परिणाम होते हैं। विशिष्ट हितों को समय या स्थान के संदर्भ में परिभाषित किया जाता है।

उपर्युक्त हितों के अतिरिक्त रॉबिन्सन तीन अन्य हितों जिसे वह "अंतरराष्ट्रीय हित" कहते हैं इनमें समान हित, पूरक हित और परस्पर विरोधी हित शामिल हैं।

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन :

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण और संवर्धन के लिए प्रयासरत रहता है। इस हेतु वह कई तरीके और साधनों का प्रयोग करता है जिससे दूसरे राष्ट्रों के संदर्भ में स्वयं के राष्ट्रीय हितों के लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति कर सके। कुछ सामान्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन निम्नलिखित हैं –

1) **राजनय या कूटनीति** : कूटनीति को किसी देश के राष्ट्रीय हितों को हासिल करने के एक साधन के रूप में लंबे समय से मान्यता प्राप्त है, और अभी भी इस उद्देश्य के लिए इसे सबसे प्रभावी साधन माना जाता है। इसी कूटनीति के माध्यम से किसी राज्य की विदेश नीति का संचालन किया जाता है। कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के लक्ष्यों को सुरक्षित करने के लिए राजनयिक वार्ता का उपयोग करता है। किसी राष्ट्र के राजनयिक अन्य राष्ट्रों के निर्णय निर्माताओं और राजनयिकों के साथ संपर्क स्थापित करते हैं जिससे वह बातचीत का द्वारा अपने

टिप्पणी

राज्यों के राष्ट्रीय हितों के लक्ष्य और उद्देश्य के संदर्भ में वांछित परिणाम प्राप्त कर सकें। इसके लिए राजनयिक अनुनय–विनय और धमकी, पुरस्कार और इनकार के साधनों का उपयोग करते हैं। हालांकि कूटनीति में राष्ट्रों को तभी सफलता प्राप्त होती है जब संबंधित राज्यों के हित पूरक या संगत होते हैं।

टिप्पणी

2) **प्रचार** : प्रचार का अर्थ है, दूसरों को समझाने की एक कला है जिससे कोई राष्ट्र अपनी कार्यवाहियों को सही या अपने वांछित लक्ष्यों को सुरक्षित करवा सके। जैसा कि फ्रेंकल कहते हैं, "प्रचार एक विशिष्ट सार्वजनिक उद्देश्य के लिए किसी दिए गए समूह के दिमाग, भावनाओं और कार्यों को प्रभावित करने का व्यवस्थित प्रयास है"। लगभग हर राष्ट्र प्रचार की तकनीक का उपयोग करके अपने राष्ट्रीय हितों को अधिकतम करना चाहता है। यूरोप में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए हिटलर और मुसोलिनी ने भी इसका इस्तेमाल किया था। इसके द्वारा सीधे अन्य राज्यों के लोगों को संबोधित किया जाता है और इसका उद्देश्य है हमेशा स्व–हितों को सुरक्षित करना। राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों के लिए समर्थन हासिल करने के साधन के रूप में इंटरनेट और सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म जैसे संचार के साधनों का क्रांतिकारी विकास से हाल के दिनों में प्रचार का दायरा बढ़ा है।

3) **गठबंधन और संधियां** : गठबंधनों और संधियों दो या दो से अधिक राष्ट्र–राज्यों द्वारा उनके सामान्य हितों को सुरक्षित करने के लिए की जाती हैं। इनका ज्यादातर उपयोग समान और पूरक हितों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण और अभिवृद्धि के लिए प्रायः सभी राज्य गठबंधन और संधियों का सहारा लेते हैं। यहां तक कि सामान्य प्रतिद्वंद्वियों या विरोधियों के खिलाफ कभी विरोधाभासी हित भी गठबंधन और संधियों को जन्म दे सकता है किंतु यह समान विचारधारा वाले राज्यों के साथ होता है। गठबंधन और संधियां इसके सदस्यों के लिए एक कानूनी दायित्व बनाती हैं क्योंकि इसमें दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य हस्ताक्षर के द्वारा सहमति बनती है। एक गठबंधन की प्रकृति या तो सैन्य या प्रकृति में आर्थिक कुछ भी हो सकती है। नाटो, सीटों, सेंटो और एंजस आदि ऐसी ही गठबंधनों का उदहारण हैं। 1971 में भारतीय राष्ट्रीय हितों की जरूरतों के अनुसार भारत ने (पूर्ववर्ती) सोवियत संघ के साथ शांति, मित्रता और सहयोग की संधि की।

4) **आर्थिक साधन** : समृद्ध और विकसित राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अपने हितों को सुरक्षित करने के आर्थिक सहायता और ऋण का उपयोग एक साधन के रूप में करते हैं। अमीर और गरीब देशों के बीच का व्यापक अंतर, समृद्ध राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए एक बड़ा अवसर प्रदान करता है। वैश्वीकरण के इस युग में अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबंध का संचालन एक महत्वपूर्ण रूप में राष्ट्रीय हितों के साधन के रूप में उभरा है। गरीब और निम्न–विकसित राष्ट्रों की औद्योगिक वस्तुओं के आयात, तकनीकी जानकारी, विदेशी सहायता, आयुध और कच्चे सामान बेचने के लिए, समृद्ध और विकसित राष्ट्र पर निर्भरता की भूमिका विदेश नीति के आर्थिक साधन को मजबूत करने के लिए जिम्मेदार रही है। समृद्ध राष्ट्रों द्वारा प्रायः आर्थिक सहायता या आर्थिक प्रतिबंधों के माध्यम

से कमजोर राष्ट्रों की नीतियों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल ढालने के लिए प्रयोग किया जाता है।

5) **बाध्यकारी साधन** : अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों द्वारा अपने हितों की अभिवृद्धि हेतु बाध्यकारी साधनों का प्रयोग किया जाता रहा है। हस्तक्षेप, बहिष्कार, फटकार, प्रतिशोध, और कूटनीतिक संबंधों का विच्छेद इत्यादि लोकप्रिय बाध्यकारी साधन हैं, जो राज्यों द्वारा दूसरे राष्ट्र के व्यवहार के नियंत्रित करने के लिए उपयोग उपयोग में लाये जाते हैं। युद्ध और आक्रामकता को अवैध साधन घोषित किया गया है, फिर भी इसका अंतरराष्ट्रीय संबंधों के वास्तविक कार्यप्रणाली में राज्यों द्वारा उपयोग किया जाना जारी है। यद्यपि आज राष्ट्र राष्ट्रीय हितों के संवर्धन के लिए बातचीत और कूटनीति जैसे शांतिपूर्ण साधनों के प्रयोग पर अधिक बल देते हैं, किन्तु जब भी वे समीचीन और आवश्यक समझते हैं तो बाध्यकारी साधनो का उपयोग करते हैं। आज अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद से सुरक्षा हेतु सैन्य शक्ति के प्रयोग को सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त है।

टिप्पणी

इस प्रकार हम देखते हैं की राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा और अभिवृद्धि के लिए अपनी आवश्यकताओं के अनुसार साधनों के चयन की स्वतंत्रता है। वे शांतिपूर्ण या बाध्यकारी साधनों का अपने हितों के अनुसार उपयोग कर सकते हैं। हालांकि, अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के संदर्भ में शांतिपूर्ण साधनो के प्रयोग की राष्ट्रों से अपेक्षा की जाती रही है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. राष्ट्रीय हित पर लिखी गई रचना 'इन डिफेंस ऑफ नेशनल इंटरेस्ट' किस विद्वान की है?

(क) मार्गेथाऊ (ख) जोसेफ फ्रैंकेल

(ग) वर्नन वॉन डाईक (घ) चार्ल्स लर्च

8. थॉमस डब्लू रॉबिंसन ने राष्ट्रीय हित को कितने वर्गों में विभाजित किया है?

(क) दो (ख) चार

(ग) छह (घ) आठ

2.6 अंतरराष्ट्रीय कानून का महत्व एवं राजनय की वर्तमान के संदर्भ में भूमिका

वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय कानून अंतरराष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया है। अंतराष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय शक्ति को नियंत्रित करने का एक साधन है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अंतरराष्ट्रीय कानून की अवधारणा का विकास आर्थिक और सामाजिक विकास को बढ़ावा देने के साथ–साथ अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को आगे बढ़ाने के लिए केंद्रीत है। इसलिए आदर्शवादी सिद्धांतकारों ने अंतरराष्ट्रीय कानूनों को

अंतराष्ट्रीय राजनीति में बहुत महत्व दिया। अंतरराष्ट्रीय कानून सम्मेलनों, संधियों और मानकों में निहित है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा लाई गई कई संधियां इस कानून का आधार बनती हैं जो राष्ट्रों के बीच के संबंधों को नियंत्रित करता है।

टिप्पणी

परंपरागत, रूप से अंतरराष्ट्रीय कानून 'राष्ट्रों का कानून' था, जो राज्यों के एक–दूसरे के साथ संबंधों के संदर्भ में लागू होता है। किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति का दायरा और विषय के व्यापक होने के साथ अंतरराष्ट्रीय कानूनों का भी दायरा विकसित हुआ आज अंतरराष्ट्रीय कानूनों में गैर–राज्य अभिनेताओं को भी शामिल किया जाता है। जिससे अंतरराष्ट्रीय कानूनों का क्षेत्र राज्यों के बीच संबंधों से परे जा कर विस्तारित हुआ है।

अंतरराष्ट्रीय कानून की परिभाषा

अंतर्राष्ट्रीय कानून, कानून की वह शाखा है, जिसमें राष्ट्र–राज्यों के मध्य के परस्पर संबंधों को विनियमित करने वाले नियम शामिल हैं। यह एक परंपरागत और प्रथागत नियमों का ऐसा निकाय है जो राष्ट्र राज्यों द्वारा एक दूसरे के साथ संबंधों में कानूनी रूप से बाध्यकारी होते हैं। ओपेनहाइम, सर हेनरीमैंन, जे.सी स्टार्क, लॉर्ड रसेल इत्यादि अंतरराष्ट्रीय कानून के प्रमुख विचारक है। अंतरराष्ट्रीय कानून की कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

- ओपेनहाइम के अनुसार, "अंतरराष्ट्रीय कानून उन परंरागत नियमों का समूह है, जिन्हें सभ्य राष्ट्र अपने आपसी व्यवहार में वैधानिक रूप से बाध्यकारी समझते हैं।
- सर हेनरीमैन ने अंतरराष्ट्रीय कानून को एक जटिल व्यवस्था माना है, जो विभिन्न घटकों से मिलकर बनती है। इसमें न्याय और अधिकारों के सामान्य सिद्धांतों जो राष्ट्रों के संबंधों तथा आचार–व्यवहार को अनुकूल बनाते है, के साथ ही यह परंपराओं, रीतियों तथा विचारों का भी संग्रह है जो सभ्यता व व्यापार का विकास करते हैं। उनके अनुसार यह सकारात्मक विधि संहिता है।
- जे. सी. स्टार्क के अनुसार, "अंतरराष्ट्रीय कानून ऐसे वैधानिक कानूनों का समूह है, जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन नियमों और सिद्धांतों से निर्मित होता है, जिसका पालन करने के लिए राष्ट्र अपने को बाध्य समझते हैं और इसलिए परस्पर संबंधों में इनका उपयोग करते हैं। स्टार्क ने इसमें दो तत्वों को सम्मिलित किया है– 1) अंतरराष्ट्रीय संगठनों तथा संस्थाओं की कार्यप्रणाली से, उनके परस्पर आपसी संबंध एवं राज्य तथा व्यक्ति के साथ उनके संबंधों के बारे में कानून व नियम। 2) व्यक्तियों तथा गैर राज्य अभिकर्ताओं से संबंधित नियम।

इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय कानून उन क़ानूनी नियमों, मानदंडों और मानकों का निकाय है जो संप्रभु राष्ट्र–राज्यों और अन्य इकाइयों के बीच संबंधों में लागू होते हैं, जिन्हे कानूनी तौर पर अंतरराष्ट्रीय अभिकर्ताओं के रूप में मान्यता दी जाती है। अंतरराष्ट्रीय कानूनों का मुख्य स्रोत अंतरराष्ट्रीय संधियां और परम्पराएं होती हैं।

अंतराष्ट्रीय कानून का महत्व

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में पिछले कुछ समय से अंतरराष्ट्रीय कानूनों के महत्व में अभिवृद्वि हुयी है। राष्ट्र–राज्यों ने अपने राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक हितों को

पूर्ण करने के लिए अंतरराष्ट्रीय कानून का सहारा लिया है ताकि राष्ट्र राज्यों के बीच इन संबंधों में एक व्यवस्था या अनुशासन कायम की जा सके। अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के बीच संबंधों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि सभ्य राष्ट्रों ने अंतरराष्ट्रीय कानून के प्रति अपने सम्मान और उनके पालन से संबंधित प्रावधानों को अपने देश के संविधान में भी स्थान प्रदान किया है। भारत का संविधान भी इसका एक उदाहरण है, जिसने संविधान के भाग IV में राज्य के नीति निर्देशक तत्व के अंतर्गत यह निर्दिष्ट किया है कि राज्य अंतरराष्ट्रीय कानून के नियमों का उचित सम्मान करेगा। इसी प्रकार ब्रिटेन और अमेरिका सहित दुनिया के कई देशों में अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अंतरराष्ट्रीय कानून, एक आचार संहिता के रूप में मान्यता प्राप्त है।

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्र–राज्य के लिए एक ढाल के रूप में कार्य करता है, जिसके आधार पर वे अपने अधिकारों की वकालत करते हैं और अन्य राष्ट्रों की नीतियों की आलोचना के लिए भी एक कानूनी हथियार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रों के मध्य वास्तविक संबंधों का संचालन अंतरराष्ट्रीय कानूनों के आधार पर होता है। विभिन्न अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन भी अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के नियमों के आधार पर ही किया जाता है और यहां तक की विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना या सदस्यता के नियम अंतरराष्ट्रीय कानूनों के नियम द्वारा शासित होते हैं।

दो राष्ट्रों के मध्य वार्ता के संचालन में राष्ट्र हमेशा अंतरराष्ट्रीय कानूनों को मान्यता देते हैं। यहां तक की युद्ध के दौरान भी इसका प्रयोग राष्ट्रों द्वारा किया जाता है, ताकि अपने पक्ष का औचित्य अंतरराष्ट्रीय समाज के समक्ष रखा जा सके। इसके साथ ही विश्व जनमत के रूप में अंतरराष्ट्रीय समाज का दबाव भी अंतरराष्ट्रीय कानूनों के पालन के लिए एक आधार प्रदान करता है। वर्तमान में जैविक, रासायनिक व परमाणु हथियार जैसे विनाशकारी अस्त्र–शस्त्रों के विकास ने विश्व व्यवस्था के लिए निश्चित रूप से खतरा उत्पन्न कर दिया है जिसकी वजह से अनियंत्रित शक्ति पर अंकुश रखने के लिए अंतरराष्ट्रीय कानूनों का भय होना जरूरी हो गया है।

वर्तमान में वैश्वीकरण के युग में अंतरराष्ट्रीय कानूनों ने राष्ट्रों की सांस्कृतिक और वाणिज्यिक संबंधों के विकास में सहायता की है, जिससे कि संबंधों का संचालन निश्चित, व्यवस्थित तथा मान्यता प्राप्त तरीके से हो सके। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के मध्य संबंधों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, परंतु अंतरराष्ट्रीय कानूनों में कई कमियां भी हैं जो इसे प्रभावी बनने में बाधा पहुंचा रही है। इसके पीछे किसी बाध्यकारी शक्ति अभाव है, क्योंकि यह किसी संप्रभु सरकार का आदेश नहीं बल्कि राष्ट्रों की आपसी सहमति पर आधारित है। संयुक्त राष्ट्र संघ कोई विश्व सरकार नहीं है। इसी कारण से अंतरराष्ट्रीय कानूनों को लचीला या कमजोर कहा जाता है और यह भी दावा किया जाता है कि शक्तिशाली राष्ट्रों के ऊपर यह इतने प्रभावी सिद्ध नहीं हुए हैं।

बेशक, अंतरराष्ट्रीय कानूनों में कमियां विद्यमान है किंतु फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि आधुनिक समय में अंतरराष्ट्रीय कानूनों का विकास और इन्हें संहिताबद्ध करना अंतरराष्ट्रीय राजनीति के लिए महत्वपूर्ण कदम है। इन कानूनों ने अंतरराष्ट्रीय

राजनीति में राष्ट्र–राज्यों के परस्पर व्यवहार और संबंधों को संस्थागत करने की प्रक्रिया में सहायता की है।

राजनय (कूटनीति)

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राजनय या कूटनीति राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का सर्वाधिक प्राचीन किंतु महत्वपूर्ण साधन है। यह राष्ट्रों की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधि होने के साथ ही राष्ट्रीय शक्ति का भी एक महत्वपूर्ण घटक है। इसका मुख्य उद्देश्य राज्यों को बल, प्रचार या कानून का सहारा लिए बिना उनकी विदेश नीतियों के उद्देश्यों को सुरक्षित करने में सक्षम बनाना है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में राजनय, बातचीत और चर्चा के माध्यम से प्रायः राज्यों के बीच दैनिक बातचीत है। यह मुख्य रूप से पेशेवर राजनयिकों और अन्य राजनय कला में प्रशिक्षिति अन्य अधिकारियों के संचार द्वारा संचालित होती है।

राजनय जिसे अंग्रेजी में 'डिप्लोमेसी' कहा जाता है एक ग्रीक शब्द "डिप्लोमा" से लिया गया है जिसका अर्थ एक आधिकारिक दस्तावेज या राज्य दस्तावेज है। प्रशिक्षित अभिलेखाध्यक्ष जो इस तरह के दस्तावेजों को व्यवस्थित किया करते थे, या 'जो लोग अभिलेखों और दस्तावेजों को संभालते थे, उन्हें पहले राजनयिक कहा जाता था। एक संप्रभु राजनीतिक इकाई का प्रतिनिधित्व करने के लिए विदेशी राजनीतिक न्यायालयों में आधिकारिक दूत भेजने की प्रथा बहुत प्राचीन है। ग्रीस, फ्रांस, चीन, और भारत में शासकों ने संदेशों और उपहारों का आदान–प्रदान किया, संधियों और गठबंधनों, शांति समझौतों पर हस्ताक्षर किए, और कभी–कभी पड़ोसी–संप्रभु राष्ट्रों के बीच विवादों की मध्यस्थता की। भारतीय चिंतक कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी राजनय और राजनयिकों के बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी प्रकार सर थॉमस रो मुगल सम्राट जहांगीर (1615–1618) के दरबार में ब्रिटिश राजदूत के रूप में आने का उल्लेख मिलता है।

राजनय की परिभाषा :

सरल शब्दों में राजनय एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से राष्ट्र एक–दूसरे के साथ संबंध बनाये रखते हैं। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी ने इसे 'बातचीत द्वारा अंतरराष्ट्रीय संबंधों का प्रबंधन' के रूप में परिभाषित किया है। वह विधि जिसके द्वारा इन संबंधों को राजदूतों और दूतों द्वारा समायोजित और प्रबंधित किया जाता है'। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटानिका राजनय को परिभाषा देते हुए लिखा है की 'राजनय, बातचीत, समझौतों और अन्य उपायों लोगों और विदेशी सरकारों के निर्णयों और व्यवहार को प्रभावित करने की स्थापित विधि है।'

कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं जो विद्वानों द्वारा दी गयी हैं, निम्नलिखित हैं :

- ऑर्गेन्स्की के अनुसार, "राजनय से अभिप्राय 'दो या दो से अधिक राष्ट्रों के आधिकारिक प्रतिनिधियों के मध्य होने वाली संधि वार्ता' से है।"
- पेडेलफोर्ड एवं लिंकन ने राजनय को राज्यों के मध्य प्रतिनिधित्व तथा संधिवार्ता के रूप में परिभाषित किया है, जिसका प्रयोग राज्य शांतिकाल में एक–दूसरे के संपर्क में रहने के लिए करते हैं।

- अर्नेस्ट सेटो के अनुसार, "स्वतंत्र राष्ट्रों के सरकारों के मध्य बुद्धि और चतुरता के प्रयोग द्वारा अधिकारिक संबंधों का संचालन' राजनय कहलाता है।"
- जॉर्ज कैनन के अनुसार, "राजनय का मुख्य कार्य हैः अपने राष्ट्र की सरकार और विदेश में अन्य सरकार या व्यक्तियों के बीच संचार को प्रभावित करना और ऐसा अधिकतम सटीकता, कल्पना, चातुर्य और अच्छी समझ के साथ करना।"

टिप्पणी

इस प्रकार राजनय या कूटनीति को हम राष्ट्र–राज्यों द्वारा अपनी नीतियों को लागू करने और स्व–हितों को आगे बढ़ने के लिए राष्ट्रों के बीच वार्ता आयोजित करने की कला या अभ्यास के रूप परिभाषित कर सकते हैं। राजनय दो राष्ट्रों के मध्य संचार का साधन है, प्रेषित संदेश नहीं। यह बातचीत के माध्यम से राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक लक्ष्यों और हितों को प्राप्त करने का साधन है।

राजनय की भूमिका

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य परस्पर संबंधों में, राष्ट्रहित और विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने में राजनय की भूमिका सदैव से महत्वपूर्ण रही है। भले ही राजनय राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक परंपरागत साधन है, किंतु विश्व की बदलती परिस्थितियों और परिप्रेक्ष्य में राजनय के तरीके और प्रकार में बदलाव आया है। राजनय द्वारा राष्ट्रों की रणनीतियों को निर्धारित किया जाता है। यह राज्यों द्वारा शक्ति प्रयोग का मुख्य विकल्प है, जो राष्ट्रों के मध्य मतभेदों की शांतिपूर्ण समायोजन का प्रयास करता है। कभी–कभी इसके द्वारा बाध्यकारी तरीकों का भी प्रयोग लिया जाता है लेकिन एक अहिंसक साधन के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। राजनय मुख्यतः राजदूतों या राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त प्रतिनिधियों के माध्यम से संवाद और बातचीत के जरिए समस्याओं के हल का प्रयास करता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शांति व्यवस्था को बनाए रखने में राजनय द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका अदा की गयी है। आज भी राष्ट्र अपने बड़े बड़े मसलों का समाधान कूटनीतिक वार्ताओं के माध्यम से करने का प्रयास करते हैं।

यथर्थवादी विचारक मार्गेथाऊ ने राजनय के चार महत्वपूर्ण कार्य बताए हैं–

(1) राज्य के प्रमुख उद्देश्यों और वास्तव में इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपलब्ध शक्ति का निर्धारण करना।

(2) राजनय को अन्य राज्यों के उद्देश्यों और उसे पूरा करने के लिए वास्तव में उपलब्ध शक्ति का आकलन करना चाहिए।

(3) कूटनीति को इस बात तक पहुंचना चाहिए कि ये किस हद तक एक–दूसरे के अनुकूल हैं

(4) कूटनीति को अपने उद्देश्यों की खोज के अनुकूल साधनों को नियोजित करना चाहिए।

मार्गेथाऊ ने यह भी कहा की राजनय युद्ध के विरुद्ध बचाव का एकमात्र साधन है, जिसे असंगत नहीं माना जाता। अगर राजनय उपर्युक्त चार कार्यों में से किसी में भी असफल रहता है तो तो वह विदेश नीति की सफलता के साथ विश्व शांति को भी खतरे में डालता है। इस प्रकार मार्गेथाऊ ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राजनय की महत्वपूर्ण भूमिका को मान्यता दी है।

टिप्पणी

यद्यपि परंपरागत राजनीति में राजनय की मुख्य भूमिका राष्ट्र–राज्यों के मध्य मित्रता पूर्ण संबंधों की स्थापना और राष्ट्रीय हितों का संवर्धन रही है, परंतु आधुनिक राजनय अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान हेतु भी प्रयासरत है। वर्तमान में ऐसे बहुत से कारक हैं, जो राज्य के स्वरूप और भूमिका में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। तकनीकी विकास, सूचना और संचार क्रांति, भूमंडलीकरण ने राजनय की परंपरागत भूमिका को महत्वपूर्ण रूप से परिवर्तित किया है। वर्तमान विश्व में तकनीकी प्रगति ने जहां राजनय लिए नए अवसर प्रदान किए हैं वही साथ में नई चुनौतियां भी प्रस्तुत की है।

एक ओर जहां बेहतर तकनीकी संचार साधनों के द्वारा (इंटरनेट, मोबाइल, हॉटलाइन, सोशल मीडिय) राष्ट्रों के बीच की दूरियां कम हो गयी हैं और आसानी से दो देशों के मध्य संवाद स्थापित हो सकता है, इसने राजदूतों के पद और शक्ति की को कम किया है। इसके साथ ही सूचनाओं और विचारो के आदान –प्रदान को गुप्त रखने हेतु साइबर सुरक्षा जैसी चुनौतियां भी राष्ट्रों के समक्ष है। राजनायिक आज एक ऐसे वैश्विक वातावरण में काम करते हैं जो 1914 के विश्व की तुलना में बहुत अधिक चुनौतीपूर्ण और जटिल है। पहले, तीव्र संचार संभव न होने से राजदूत के निर्णय और मौके पर उनका राजनयिक कौशल अधिक महत्वपूर्ण था। आज सभी महत्वपूर्ण मामलों पर राजदूतों को अपने देश में वापस संदर्भित किया जाता है। वर्तमान में 'शटल डिप्लोमेसी' का विकास हुआ है। इसके अंतर्गत किसी देश का मंत्री दूसरे देशों की यात्रा करके बातचीत और संवाद करता है। इसलिए उस देश में नियुक्त राजदूत की भूमिका कम हो गयी है।

आज अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में कई संरचनात्मक बदलाव हुए हैं जिसने राजनय के तरीके को प्रभावित किया है। राजनीति के केंद्र के रूप में यूरोपियन राष्ट्रों की महत्ता कम हुई है और एशियाई और अन्य गैरयूरोपीय राष्ट्रों के साथ गैर –राज्य अभिनेताओं के प्रभाव में वृद्धि हुई है जिससे आज बहुपक्षीय कूटनीति, जन कूटनीति और शिखर कूटनीति को अधिक महत्व दिया जाने है।

परंपरागत रूप से, अंतरराष्ट्रीय राजनीति और राजनय, युद्ध (संघर्ष) और अर्थशास्त्र (अक्सर अंतरराष्ट्रीय व्यापार के रूप में) के मामलों पर केंद्रित था। अतीत की अधिकांश कूटनीति राज्य सुरक्षा पर केंद्रित थी अर्थात्, एक नेता द्वारा नियंत्रित क्षेत्र के अस्तित्व को सुनिश्चित करना। यद्यपि राज्य सुरक्षा आज भी मायने रखती है, किंतु साथ ही मानव सुरक्षा पर भी बहुत ध्यान दिया जा रहा है। मानव सुरक्षा मानव के स्वास्थ्य और सुरक्षा और उनके पर्यावरण पर ध्यान केंद्रित है। आज, मानव सुरक्षा के मामलों पर पहले से कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। इस वजह से, वैश्विक मामलों में राजनय पर काम करने वालों को इन मामलों में पारंगत होना पड़ता है, और मानव सुरक्षा के महत्व को समझना पड़ता है, साथ ही साथ 'पारंपरिक 'राज्य सुरक्षा जैसे मामले को भी देखना होता है।

इस प्रकार वर्तमान में राजनय की भूमिका स्वरुप में गुणात्मक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं। राजनय नयी वैश्विक परिस्थियों में अपनी राष्ट्र–राज्यों के साथ संबंधों की पारम्परिक भूमिका के साथ अंतरराष्ट्रीय मामलों और समस्याओं में भी भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. अंतरराष्ट्रीय कानून के प्रमुख विचारक हैं–

(क) ओपेनहाइम (ख) सर हेनरीमैन

(ग) जे.सी. स्टार्क (घ) उपरोक्त सभी

10. "अंतरराष्ट्रीय कानून उन परंपरागत नियमों का समूह है, जिन्हें सभ्य राष्ट्र अपने आपसी व्यवहार में वैधानिक रूप से बाध्यकारी समझते हैं।" यह परिभाषा किस विद्वान की है?

(क) सर हेनरीमैन (ख) ओपेनहाइम

(ग) जे.सी. स्टार्क (घ) लॉर्ड रसेल

टिप्पणी

2.7 संयुक्त राष्ट्र

संयुक्त राष्ट्र (संयुक्त राष्ट्र संगठन) की स्थापना 24 अक्टूबर 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 51 देशों द्वारा अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने, राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को विकसित करने और सामाजिक प्रगति, बेहतर जीवन स्तर और मानव अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए की गई थी। इससे पहले प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 1919 में शांति के उद्देश्य से राष्ट्र–संघ की स्थापना की गयी थी, किन्तु यह शांति और सौहार्द्र स्थापित में असफल सिद्ध हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाशकारी परिणामो के पश्चात विश्व के प्रमुख नेताओं ने एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय संगठन के निर्माण के बारे में सोचा जो भविष्य में युद्ध से बचा सके और विश्व में शांति स्थापित कर सके। इसी उद्देश्य के साथ संयुक्त राष्ट्र की नीव रक्खी गयी। भारत संयुक्त राष्ट्र का संस्थापक सदस्य देश है और यह उनमें से भी एक था जिन्होंने 1945 में सैन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना करने वाले मसौदे पर हस्ताक्षर किया था। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र में 193 सदस्य राष्ट्र हैं। संयुक्त राष्ट्र एकमात्र ऐसा संगठन है जो कई प्रकार के मुद्दों पर कार्रवाई कर सकता है और सभी इच्छुक देशों और प्रतिभागियों को संयुक्त रूप से अपने विचारों पर चर्चा करने के लिए एक मंच प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र का मुख्यालय न्यूयॉर्क में है और जेनेवा, वियना और नैरोबी में इसके क्षेत्रीय कार्यालय भी हैं।

संयुक्त राष्ट्र का इतिहास

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ही विश्व शांति एवं सुरक्षा हेतु मित्र राष्ट्रों द्वारा एक अंतरराष्ट्रीय संगठन की स्थापना हेतु सहमति व्यक्त की गयी थी। सबके समक्ष संयुक्त राष्ट्र का विचार अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलीन डी रूजवेल्ट और ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने अगस्त 1941 में अटलांटिक चार्टर पर हस्ताक्षर के द्वारा प्रस्तुत किया। 1 जनवरी, 1942 को, 26 देशों द्वारा संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषणा पर हस्ताक्षर किए। वर्ष 1993 में संयुक्त राष्ट्र निर्माण के लिए तेहरान में सम्मलेन हुआ

संयुक्त राष्ट्र के गठन की दिशा में पहला बड़ा कदम 21 अगस्त से लेकर 7 अक्टूबर, 1944 को डंबर्टन ओक्स सम्मेलन में लिया गया था, जिसमें "बिग थ्री"

टिप्पणी

(अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ) राष्ट्रों और चीन के राजनयिक विशेषज्ञों की एक बैठक आयोजित हुयी। हालांकि चार देशों ने एक नए विश्व संगठन के सामान्य उद्देश्य, संरचना और कार्य पर सहमति व्यक्त की, लेकिन सम्मेलन सदस्यता और मतदान पर असहमति के बीच समाप्त हो यह सम्मलेन समाप्त हो गया। इसके पश्चात फरवरी 1945 के याल्टा सम्मलेन में "बिग थ्री" राष्ट्रों द्वारा सुरक्षा परिषद् में पांच स्थायी सदस्यों को वीटो का अधिकार प्रदान किया गया।

इसके पश्चात 25 अप्रैल, 1945 को सैन फ्रांसिस्को में सम्मलेन आयोजित किया गया जिसमे संयुक्त राष्ट्र के अंतिम चार्टर का निर्माण हुआ। सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में दुनिया के सभी भौगोलिक क्षेत्रों से 50 देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए। संयुक्त राष्ट्र चार्टर को सर्वसम्मति से 26 जून को अपनाया गया और 24 अक्टूबर, 1945 को इस पर सदस्य राष्ट्रों द्वारा हस्ताक्षर किया गया और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ।

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य और सिद्धांतः

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य जिनका उल्लेख चार्टर के अनुच्छेद 1 में मिलता है –

- अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना ।
- राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित करना।
- अंतरराष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं को सुलझाने और मानवाधिकारों और मौलिक स्वतंत्रता के सम्मान को बढ़ावा देने में सहयोग करना।
- पृथ्वी और पर्यावरण की सुरक्षा करना।

चार्टर के अनुच्छेद 2 में संयुक्त राष्ट्र के कार्यकरण के निम्नलिखित सिद्धांतों का वर्णन है–

- यह अपने सभी सदस्यों की संप्रभु समानता पर आधारित है।
- सभी सदस्य राष्ट्रों को चार्टर के सभी दायित्वों को पूरी निष्ठा से पालन करना है।
- सभी सदस्य राष्ट्र द्वारा बिना अंतरराष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और न्याय को खतरे में डाले शांति से अपने अंतरराष्ट्रीय विवादों का निपटारा करना है।
- सदस्य राष्ट्रों को किसी अन्य राज्य के खिलाफ बल के खतरे या उपयोग से बचना होगा ।
- सदस्य राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार होने वाली प्रत्येक कार्रवाई में हर संभव सहायता देने के तैयार रहना हैं।
- चार्टर में ऐसा कुछ भी नहीं है कि एकजुट राष्ट्रों को उन मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए अधिकृत किया जाए जो अनिवार्य रूप से किसी भी राज्य के घरेलू न्याय क्षेत्र के भीतर हैं।

संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता : संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता सभी शांति प्रिय देशों के लिए खुली है जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने के लिए तैयार

हैं और इन्हे पूरा करने के लिए सक्षम हैं। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा इसके सदस्यों को निलंबित या निष्कासित किया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र की संरचना :

चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के छह मूल अंग हैं :

1. महासभा
2. सुरक्षा परिषद
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद
4. न्यास परिषद
5. अंतरराष्ट्रीय न्यायालय
6. सचिवालय

टिप्पणी

1. महासभा :

महासभा, संयुक्त राष्ट्र का मुख्य विचार–विमर्श, नीति–निर्धारण और प्रतिनिधि अंग है। संयुक्त राष्ट्र के सभी 193 सदस्य राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व महासभा में किया जाता है, जो इसे सार्वभौमिक प्रतिनिधित्व वाला एकमात्र संयुक्त राष्ट्र निकाय बनाता है। हर साल, सितंबर में, संयुक्त राष्ट्र के पूर्ण सदस्य देश वार्षिक महासभा सत्र के लिए न्यूयॉर्क में सामान्य सभा हॉल में मिलतें हैं, जहां सामान्य बहस होती है, जिसमें कई राज्यों के प्रमुख भाग लेते हैं और सभा को संबोधित करते हैं। महत्वपूर्ण सवालों पर निर्णय, जैसे कि शांति और सुरक्षा, नए सदस्यों के प्रवेश और बजटीय मामलों के लिए, महासभा के दो–तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। अन्य प्रश्नों पर निर्णय साधारण बहुमत से होते हैं। महासभा, प्रत्येक वर्ष महासभा के अध्यक्ष का चुनाव एक वर्ष के कार्यकाल के लिए करती है।

महासभा का प्राथमिक कार्य महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करना और अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सिफारिशें करना है, हालांकि इसके पास प्रस्तावों को लागू करने या राज्य कार्रवाई के लिए मजबूर करने की कोई शक्ति नहीं है। महासभा के अन्य कार्यों में नए सदस्यों को स्वीकार करना शामिल है। आर्थिक और सामाजिक परिषद के सदस्यों का चयन, सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्य चयन, संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की गतिविधियों की निगरानी करना, जिसमें से विधानसभा को रिपोर्ट प्राप्त होती है, और अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीशों के चुनाव में भाग लेना और महासचिव का चयन है।

2. सुरक्षा परिषद् :

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का महत्वपूर्ण अंग है जिसकी प्राथमिक जिम्मेदारी संयुक्त राष्ट्र चार्टर के तहत अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखना है। इसमें 15 सदस्य होते हैं, जिसमे 5 स्थायी और 10 गैर–स्थायी सदस्य हैं जो दो साल के लिए महासभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। चार्टर के तहत, सभी सदस्य राज्य परिषद के निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य हैं। परिषद की

अध्यक्षता अपने सदस्य राज्यों के बीच अंग्रेजी वर्णमाला सूची के अनुसार मासिक रूप से घूमती रहती है।

सुरक्षा परिषद के प्रमुख कार्य :

सुरक्षा परिषद के प्रमुख कार्य को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

टिप्पणी

- संयुक्त राष्ट्र के सिद्धांतों और उद्देश्यों के अनुसार अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना।
- शस्त्रीकरण को विनियमित करने के लिए एक प्रणाली की स्थापना के लिए योजना तैयार करना।
- किसी भी ऐसी विवाद या स्थिति का परीक्षण करना जो अंतरराष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दे सकती है।
- ऐसे विवादों या समाधान की शर्तों को समायोजित करने के तरीकों की सिफारिश करना।
- आक्रमणकारी राष्ट्र के खिलाफ सैन्य कार्रवाई करने के लिए सिफारिश करना।
- आक्रमकता को रोकने के लिए बल का उपयोग शामिल न करते हुए, आर्थिक प्रतिबंधों और अन्य उपायों को लागू करने के लिए सदस्यों को सिफारिश करना।
- नए सदस्यों के प्रवेश की सिफारिश करना।
- महासभा से महासचिव की नियुक्ति करने के लिए सिफारिश करना और महासभा के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव करना।
- आक्रमण या शांति के लिए खतरे के उपस्थिति का निर्धारण करना और इसके लिए क्या कदम उठाने हैं, उनका सुझाव देना।

सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन हैं। इस बात की बहुत आलोचना होती है कि स्थायी पांच सदस्य 1945 के शक्तिशाली देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वर्तमान वैश्विक स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और न ही वे भौगोलिक रूप से वर्तमान दुनिया का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

3. आर्थिक और सामाजिक परिषद :

आर्थिक और सामाजिक परिषद, समन्वय, नीति समीक्षा, नीतिगत वार्ता और आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय मुद्दों पर सिफारिशों के साथ–साथ अंतरराष्ट्रीय रूप से सहमत विकास लक्ष्यों के कार्यान्वयन के लिए प्रमुख निकाय है। यह आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र प्रणाली और इसकी विशेष एजेंसियों की गतिविधियों के लिए केंद्रीय तंत्र के रूप में कार्य करता है, तथा सहायक और विशेषज्ञ निकायों की देखरेख करता है। इसमें तीन वर्ष की अवधि के लिए महासभा द्वारा निर्वाचित 54 सदस्य होते हैं। यह सतत विकास पर बहस और नवीन सोच के लिए संयुक्त राष्ट्र का केंद्रीय मंच है।

कई संयुक्त राष्ट्र एजेंसियां और कार्यक्रम ECOSOC के साथ मिलकर काम करते हैं। एजेंसियां सभी स्वतंत्र संगठन हैं, जिनके अपने सदस्य देश और बजट हैं।

संयुक्त राष्ट्र के कई कार्यक्रम महासभा द्वारा बनाए गए और ECOSOC के साथ मिलकर काम करते हैं, लेकिन महासभा और / या सुरक्षा परिषद को रिपोर्ट करते हैं।

4. न्यास परिषद :

न्यास परिषद (ट्रस्टीशिप काउंसिल) की स्थापना 1945 में संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा, अध्याय XIII के तहत, 11 ट्रस्ट प्रदेशों के लिए अंतरराष्ट्रीय पर्यवेक्षण प्रदान करने के लिए की गई थी, जिसे सात सदस्य राज्यों के प्रशासन के तहत रखा गया था। न्यास परिषद् को विश्वास क्षेत्रों की सरकार की निगरानी करने और उन्हें स्व–सरकार या स्वतंत्रता के लिए नेतृत्व करने के लिए निर्मित किया गया था। राष्ट्र संघ के तहत जनादेश प्रणाली की तरह ट्रस्टीशिप व्यवस्था की स्थापना भी इस आधार पर की गई थी कि युद्ध में पराजित देशों से लिए गए औपनिवेशिक क्षेत्रों को विजयी शक्तियों द्वारा वापस नहीं लिया जाना चाहिए, लेकिन उनके भविष्य तक अंतरराष्ट्रीय पर्यवेक्षण के लिए एक ट्रस्ट देश द्वारा प्रशासित किया जाना चाहिए। वर्तमान में न्यास परिषद् अप्रभावी हो चुकी है।

टिप्पणी

5. अंतरराष्ट्रीय न्यायालय :

अंतरराष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख न्यायिक अंग है। इसका मुख्यालय हेग (नीदरलैंड) के पीस पैलेस में है। यह संयुक्त राष्ट्र के छह प्रमुख अंगों में से एकमात्रा अंग है जो न्यूयॉर्क (संयुक्त राज्य अमेरिका) में स्थित नहीं है। न्यायालय की भूमिका अंतरराष्ट्रीय कानून के अनुसार, राज्यों द्वारा इसे प्रस्तुत कानूनी विवादों और अधिकृत संयुक्त राष्ट्र के अंगों और विशेष एजेंसियों द्वारा निर्दिष्ट कानूनी प्रश्नों पर सलाहकार राय देने के लिए है।

न्यायालय के 15 न्यायाधीश महासभा और सुरक्षा परिषद द्वारा स्वतंत्र रूप से मतदान के द्वारा नियुक्त होते हैं। कोई भी दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नागरिक नहीं हो सकते हैं और न्यायाधीश दुनिया की प्रमुख कानूनी प्रणालियों का व्यापक प्रतिनिधित्व करते हैं। न्यायाधीश नौ साल की शर्तों की सेवा करते हैं और पुनर्निर्वाचन के योग्य होते हैं।

6. सचिवालय :

सचिवालय में संयुक्त राष्ट्र के हजारों महासचिव और अंतरराष्ट्रीय कर्मचारी शामिल होते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के दिन–प्रतिदिन के कार्य को महासभा और संयुक्त राष्ट्र संगठन के अन्य प्रमुख अंगों द्वारा अनिवार्य रूप से संपादित करते हैं। महासचिव संगठन का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है, जिसे पांच साल के लिए सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र के कर्मचारी सदस्य अंतरराष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर भर्ती किए जाते हैं और ड्यूटी स्टेशनों और दुनिया भर के शांति अभियानों में काम करते हैं। लेकिन वर्तमान संघर्षशील विश्व में शांति के लिए सेवा करना एक कठिन काम है। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद से, सैकड़ों बहादुर पुरुषों और महिलाओं ने इसकी सेवा में अपना जीवन दिया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ में कितने सदस्य राष्ट्र हैं?

(क) 190 (ख) 191

(ग) 192 (घ) 193

12. सन् 1993 में संयुक्त राष्ट्र निर्माण के लिए सम्मेलन कहां पर हुआ?

(क) जेनेवा (ख) तेहरान

(ग) न्यूयॉर्क (घ) फ्रांस

2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ग)
5. (घ)
6. (घ)
7. (क)
8. (ग)
9. (घ)
10. (ख)
11. (घ)
12. (ख)

2.9 सारांश

शक्ति की अवधारणा अंतरराष्ट्रीय राजनीति की एक केंद्रीय अवधारणा है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शक्ति को राष्ट्रीय शक्ति के नाम से जाना। राष्ट्रीय शक्ति किसी राष्ट्र की उस क्षमता की ओर इंगित करती है जिसके माध्यम से अन्य राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह के व्यवहार और क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण उस राष्ट्र भौगोलिक कारकों, प्राकृतिक संसाधन, सैन्य एवं आर्थिक शक्ति, तकनीकी क्षमता और नेतृत्व इत्यादि तत्वों पर निर्भर करता है।

शक्ति–संतुलन की अवधारणा शक्ति और शक्ति संघर्ष के विचार से अभिन्न रूप से संबंधित है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसका प्रयोग शक्ति को नियंत्रित करने के लिए

एक साधन के रूप में किया जाता है। इसके अनुसार एक राज्य की शक्ति पर सबसे प्रभावी नियंत्रण अन्य राज्यों की शक्ति है।

शीत युद्ध काल में प्रतिरोध के सिद्धांत का विकास परमाणु खतरे को देखते हुए किया गया, जिसके द्वारा के आक्रामक व्यवहार पर प्रतिबंध आरोपित किया जाता है।

टिप्पणी

शक्ति की अवधारणा के साथ ही राष्ट्रीय हित की अवधारणा भी महत्वपूर्ण है। यह विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों का केंद्र–बिंदु है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित की प्राप्ति में निरंतर लगा रहता है।

राजनय राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि का सबसे प्राचीन और प्रभावी साधन है। विदेश नीति का कार्यान्वयन राजनय के माध्यम से ही किया जाता है। राजनय के स्वरुप और भूमिका में भी नवीन अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन हुआ है।

वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय कानूनों के महत्व में वृद्धि हुई है। यह भी शक्ति के नियंत्रण का एक उपाय है, आज राष्ट्र अपने परस्पर संबंधों के संचालन में अंतरराष्ट्रीय कानूनों को मान्यता देते हैं।

वित्तीय विश्व युद्ध के बाद विश्व शांति व सुरक्षा के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई जो एक महत्वपूर्ण घटना थी। वर्तमान में भी संयुक्त राष्ट्र अपने विभिन्न अंगों के माध्यम से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास रत है।

2.10 मुख्य शब्दावली

- **भू–राजनीति** : विश्व–राजनीति और अंतर–राज्य संबंधों में राजनीतिक और भौगोलिक कारकों के संयोजन का अध्ययन।
- **प्रभुत्वः** अपनी सैन्य, आर्थिक, राजनीतिक शक्ति और सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार पर दूसरों पर एक राज्य की प्रबलता।
- **विश्व राजनीति** : विश्व राजनीति का तात्पर्य दुनिया के देशों के बीच शक्ति वितरण से है। ये देश अपनी क्षमताओं से सत्ता हासिल करने और उसे बनाए रखने में लगे हुए हैं।
- **गठबंधन** : दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य एक औपचारिक संध्या समझौता जिसके द्वारा भी सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आर्थिक–राजनीति सहायता देने के लिए एक–दूसरे से वचनबद्ध होते हैं।
- **राजदूत** : एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र में अपने राष्ट्र के प्रतिनिधित्व के लिए नियुक्त अधिकारी।
- **सुरक्षा** : एक राज्य की वह क्षमता जो अपनी सीमा को विदेशी आक्रमण से सुरक्षित कर सके।

टिप्पणी

2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति संतुलन से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य मान्यताएं बताइए।
2. सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था से क्या तात्पर्य है?
3. प्रतिरोध सिद्धांत का विकास कब हुआ और इसकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
4. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन कौन–कौन से हैं?
5. अंतरराष्ट्रीय कानून से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख विचारकों के नाम बताइए।
6. राजनय से क्या तात्पर्य है?
7. संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य उद्देश्यों को समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय शक्ति से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य तत्व और सीमाओं की व्याख्या कीजिए?
2. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में शक्ति संतुलन की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए?
3. राष्ट्रीय हित से क्या अभिप्राय है और इसकी अभिवृद्धि के प्रमुख साधनों का उल्लेख कीजिए?
4. राजनय को परिभाषित कीजिए और वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उस भूमिका का मूल्यांकन कीजिए?
5. संयुक्त राष्ट्र संघ पर एक निबंध लिखिए?

2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

- Morgenthau Hans J- (1965) "Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace", New York: Alfred A. Knopf.
- Frankel Joseph (1970), National Interest , UK: Palgrave Macmillan
- Pant Pushpesh (2011) International Relations in 21st Century, New Delhi: Tata McGraw& Hill.
- Chatterjee, Aneek (2010), International Relations Today: Concepts and Application, Delhi: Pearson.
- Kumar, Mahendra (2017), Theoretical Aspects of International Politics, Agra: Shiv lal Agrawal and company.
- Basu, Rumaki (2019), Antarrashtriy Rajneeti, Avdharnayen tatha Mudde, Delhi: Sage Publication.

इकाई 3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय सहयोग संगठन एवं शीत युद्ध

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 क्षेत्रवाद एवं क्षेत्रीय संगठन
  3.2.1 दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क)
  3.2.2 यूरोपीय यूनियन
3.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता
  3.3.1 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता की नीति का आधार
  3.3.2 असंलग्नता या गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका
  3.3.3 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता का महत्व
3.4 शीत–युद्ध
  3.4.1 शीत युद्ध की समाप्ति
  3.4.2 शीत युद्ध की समाप्ति के कारण
  3.4.3 शीत युद्ध की समाप्ति का परिणाम
3.5 उत्तर शीत युद्ध–कालीन मुद्दे
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत के पश्चात अंतरराष्ट्रीय राजनीति में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहला शीत युद्ध का प्रारंभ और दूसरा क्षेत्रवाद के प्रभाव में वृद्धि। अंतरराष्ट्रीय स्तर राष्ट्रों द्वारा आर्थिक और राजनीतिक योग से क्षेत्रवाद की विचारधारा को एक नया आयाम प्राप्त हुआ। पड़ोसी राष्ट्रों अथवा समान विचारधारा रखने वाले राष्ट्र परस्पर सहयोग हेतु एक मंच पर आये, जिसके परिणामस्वरूप कई राजनीतिक, आर्थिक, सैन्य तथा रक्षा सहयोग हेतु क्षेत्रीय संगठनों का जन्म हुआ। यूरोपियन यूनियन पहला, क्षेत्रीय सहयोग संगठन है जिसने सभी यूरोपियन राष्ट्रों की एकीकृत किया और एक मंच पर लाने का कार्य किया। इसके अतिरिक्त आसियान, अरब लीग, दक्षिण अफ्रीकी विकास समुदाय, सार्क जैसे राजनीतिक–आर्थिक सहयोग संगठनों का निर्माण हुआ जिन्होंने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद की अवधारणा को पुष्ट करने का कार्य किया।

शीत युद्ध की अवधि में महाशक्तियों के द्वि–ध्रुवीय टकराव और क्षेत्रीय गुटों के निर्माण की प्रवृति भी अत्यंत तीव्र रही। परिणामस्वरूप ज्यादातर राष्ट्र इन दो महाशक्तियों के गठबंधन का भाग रहे जिससे नाटो और सीटों जैसे सैन्य सहयोग संगठनों का निर्माण हुआ। हालांकि कुछ राष्ट्र ऐसे भी थे जिन्होंने इन दोनों गुटों में

सम्मिलित होने के बजाय असंलग्नता या गुट–निरपेक्षता की नीति का पालन किया। इस इकाई में हम क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय संगठनों–यूरोपियन यूनियन और सार्क, असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता, शीतयुद्ध और शीतयुद्ध की समाप्ति व उत्तर–शीत युद्ध–कालीन मुद्दों के बारे में जानने का प्रयास करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- अंतरराष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रवाद की व्याख्या कर पाएंगे;
- सार्क और यूरोपियन यूनियन जैसे क्षेत्रीय संगठनों के विकास एवं महत्व को समझ पाएंगे;
- असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता की नीति का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- शीत युद्ध के स्वरूप से अवगत हो पाएंगे;
- उत्तर शीत युद्ध–कालीन विश्व के मुद्दों को समझ पाएंगे।

3.2 क्षेत्रवाद एवं क्षेत्रीय संगठन

क्षेत्रवाद या क्षेत्रीयता की अवधारणा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हुई है। उसके पश्चात् क्षेत्रवाद दो अलग–अलग अवधि, शीत युद्ध काल और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद के काल के दौरान क्रमशः विकसित हुआ। प्रत्येक अवधि के दौरान क्षेत्रवाद तत्कालीन वैचारिक और राजनीतिक संदर्भो एवं मुद्दों से प्रभावित रहा है। जहां शीत युद्ध काल में महाशक्तियों के टकराव से क्षेत्रीय गुटों का जन्म हुआ, वहीं शीत युद्ध के बाद शक्ति वितरण में पर्याप्त परिवर्तन और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए क्षेत्रीय समूहों के निर्माण में कमी आयी और आर्थिक और क्षेत्रीय मामलों में सहयोग हेतु क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण की प्रवृति में वृद्धि दिखाई दी।

प्रायः क्षेत्र से अभिप्राय राज्य के किसी हिस्से या भूखंड से होता है, किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्र का तात्पर्य तीन या उससे अधिक राष्ट्र–राज्यों के भू–खंड से लिया जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यह जरुरी नहीं की क्षेत्र एक ही महाद्वीप में हो या भौगोलिक रूप से समीप हो। भूगोल के साथ–साथ सामान्य हितों के आधार पर भी क्षेत्र का आकलन किया जाता है। इस प्रकार क्षेत्रवाद का तात्पर्य उन विचारों के समूह, मूल्यों और उद्देश्यों से है, जो एक विशेष क्षेत्र या विश्व व्यवस्था के निर्माण, उसे बनाये रखने या संशोधन में योगदान देते हैं। इस प्रकार क्षेत्रवाद संप्रभु राष्ट्रों का एक स्वैच्छिक साहचर्य है, जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अंतर्गत या कुछ सामान्य हितों के संयुक्त उद्देश्य के लिए राष्ट्रों के सहयोग, एकीकरण और अंतर्निर्भरता को दर्शाता है।

शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात बहुपक्षीय उदारवादी तंत्र की स्थापना और वैश्वीकरण प्रक्रियाओं को बढ़ावा देने के व्यापक संदर्भ में तथा एकीकरण और सहयोग के संदर्भ में क्षेत्रवाद का अध्ययन किया गया है। लेकिन आज क्षेत्रवाद की अवधारणा पहले से काफी भिन्न है, जो क्षेत्रों और क्षेत्रीयता के साथ वैश्विक नीतियों को आकार

देने में और ऐसे कई मुद्दों व क्षेत्रों जो पहले वैश्विक बहुपक्षीय संस्थानों के ढांचे में थे, को संबोधित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आधुनिक समय में वैश्विक स्तर पर, राज्यों के बीच अंतरसंबंधों के संपूर्ण विस्तार को अंतरराष्ट्रीय प्रणाली के रूप में देखा जाता है, वही माध्यमिक स्तर पर क्षेत्रीय समूह हैं, जिन्हें अंतरराष्ट्रीय उप–प्रणाली कहा जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के विद्वान, साथ ही अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में अभिकर्ता वैश्विक व्यवस्था को एक उप–व्यवस्था के समूह के रूप में देखते हैं, जो मुख्यतः भू–राजनीतिक मानदंडों पर आधारित है। ये उप–प्रणालियां जिन्हें 'क्षेत्र' भी कहा जाता है, इन्हें न केवल वैश्विक स्तर पर शक्ति के समीकरण के संतुलन में महत्वपूर्ण माना जाता है, बल्कि उन घटक राष्ट्रों के सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं को आकर देने में भी महत्वपूर्ण माना जाता हैं।

क्षेत्रीय संगठन

क्षेत्रवाद की अवधारणा क्षेत्रीय सहयोग संगठन के माध्यम से प्रकट हुई। एक विशेष क्षेत्र के राष्ट्र–राज्यों ने न केवल क्षेत्रीय आधार संगठित होकर राजनीतिक, सुरक्षा और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग के लिए क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण किया है बल्कि कुछ सामान्य हितों की पूर्ति के लिए भौगोलिक दूरी होने के बावजूद भी राष्ट्र द्वारा क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण हुआ। इस प्रकार सामान्य हित की अवधारणा ही क्षेत्रीय सहयोग का आधार रही है। सार्क (दक्षेस), यूरोपियन यूनियन, आसियान, अफ्रीकी एकता संघ और अमेरिकी राज्यों का संघ (O A S) का निर्माण भौगोलिक समीपता के आधार पर हुआ है। वही ओपेक, ब्रिक्स, जी–4, ओइसीडी आदि क्षेत्रीय संगठन सामान्य हितों पर आधारित हैं।

यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कई क्षेत्रीय, संगठन का प्राथमिक मकसद अपने सदस्य राष्ट्रों के लिए सुरक्षा उद्देश्यों को प्राप्त करना था, शीत युद्ध के बाद, बदले हुए अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में, क्षेत्रीय संगठनों ने सदस्य–राज्यों के बीच मुख्य रूप से सार्थक सहयोग के माध्यम से क्षेत्र के आर्थिक विकास पर ध्यान केंद्रित किया है। मुक्त व्यापार क्षेत्र (एफटीए) के निर्माण के माध्यम से, क्षेत्रीय संगठन सदस्यों के बीच उद्देश्यपूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की गयी है। वर्तमान परिस्थिति में अंतरराष्ट्रीय राजनीति आर्थिक सहयोग की ओर अग्रसर हो रहा है। आज क्षेत्रीय संगठन वैश्विक स्तर पर एक अभिनेता के रूप में उभर रहे हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण मुख्य रूप से तीन कारणों से किया जाता है–

1. **सुरक्षा कारण** : युद्ध अथवा सीमाओं की सुरक्षा को ध्यान में रखकर राष्ट्रों द्वारा क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का निर्माण किया जाता है शीत युद्ध काल में आक्रमण के भय से सुरक्षित रखने के लिए कई संगठनों का निर्माण हुआ। इसी उद्देश्य से 1949 में नाटो का गठन किया गया, जिसका लक्ष्य था सोवियत संघ के साम्यवादी विस्तार को रोकने के साथ ही, यूरोपीय राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करना तथा सैन्य विकास एवं सदस्य राष्ट्रों को युद्ध के लिए तैयार करना था। इसी प्रकार, दक्षिण–पूर्व एशिया संधि संगठन (सीटो), सेन्टो, वारसा पैक्ट और ऐंजस जैसे संगठनों की स्थापना भी सैन्य और सुरक्षा सहयोग हेतु की गयी।

2. **आर्थिक कारण** : राष्ट्रों द्वारा अपने आर्थिक हितों की प्राप्ति के लिए भी क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण किया गया है। विशेषकर, वैश्वीकरण ने राष्ट्रों को पास लाकर देशों की आर्थिक निर्भरता को और बढ़ा दिया। एशिया पैसिफिक आर्थिक संगठन (A P E C), बिम्सटेक, ब्रिक्स, लैटिन अमेरिकी मुक्त व्यापार संघ (LAFTA), आदि कुछ ऐसे संगठन हैं जो आपसी आर्थिक सहयोग और हितों को बढ़ावा देने के लिए गठित किये गए हैं।

3. **अन्य कारण** : बहुत से क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण बहु–प्रकार्यात्मक उद्देश्यों अर्थात राजनीतिक, आर्थिक, सैन्य, तकनीकी और सांस्कृतिक उद्देश्यों और हितों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। सार्क, OAS, अफ्रीका एकता संघ, आसियान ऐसे संगठनों का उदाहरण हैं।

इस प्रकार क्षेत्रीय संगठनों का गठन विश्व के विभिन्न भागों में अलग–अलग कारणों से हुआ है। क्षेत्रीय संगठनों की उचित समझ के लिए हम कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय संगठनों की अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भूमिका व महत्व को समझने का प्रयास करेंगे।

3.2.1 दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क)

दक्षिण एशियाई क्षेत्र में सदियों से गहरा सांस्कृतिक और सभ्यता संबंधी नाता रहा है। दक्षिण एशियाई राष्ट्रों के विविध सांस्कृतिक, धार्मिक, और भाषायी समूहों प्राचीन कल से ही सह–अस्तित्व में हैं। इस क्षेत्र की खनिज संपदा और संसाधनों ने पश्चिमी शक्तियों का अवांछित ध्यान आकर्षित किया, जिससे यहां पर औपनिवेशिक वर्चस्व और शोषण का एक लंबा युग चला। बीसवीं सदी के आगमन के साथ पूरे क्षेत्र में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता आंदोलनों की भावना का उद्‌भव हुआ जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश चंगुल से स्वतंत्रता प्राप्त हुई, किंतु इसके साथ ही इनके बीच राजनीतिक मतभेद और संघर्ष का भी सूत्रपात हो गया। भू–राजनीतिक वास्तविकताओं और क्षेत्र में विद्यमान अविश्वास के लंबे समय तक प्रचलित वातावरण, जिसने दक्षिण एशिया में लंबे समय तक तनाव के वातावरण को बनाए रखा, उसे अचानक से समाप्त नहीं किया जा सकता था। क्षेत्र में तनाव को समाप्त करने हेतु सकारात्मक प्रयासों और राष्ट्रों में परस्पर विश्वास को विकसित करने के लिए एक क्षेत्रीय सहयोग की अनिवार्यता को महसूस किया गया। सार्क चार्टर में द्विपक्षीय और विवादास्पद मुद्दों को संगठन के विचार–विमर्श से बाहर करने का सामान्य प्रावधान और निर्णय लेने में एकमतता के सिद्धांत को इन तथ्यों के प्रकाश में देखा जाना चाहिए।

सार्क का गठन

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) की स्थापना 8 दिसंबर 1985 को ढाका में सार्क चार्टर के हस्ताक्षर के साथ की गई थी। दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग का विचार 1980 में बांग्लादेश के प्रधानमंत्री जिया–उर–रहमान द्वारा रखा गया था। इसके गठन हेतु पहला महत्वपूर्ण कदम अप्रैल 1981 की शुरुआत में कोलंबो में सात देशों के विदेश सचिवों की बैठक थी, ये देश भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका, और मालदीव थे। इसके पश्चात अगस्त–सितंबर 1981 में पुनः एक बैठक हुई, जिसमें क्षेत्रीय सहयोग के लिए पांच व्यापक क्षेत्रों की पहचान की। इसके बाद 1983

में नई दिल्ली में दक्षिण एशिया के विदेश मंत्रियों की बैठक हुई, जिसमें दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग (SARC) पर घोषणा को अपनाया और औपचारिक रूप से सहयोग के पांच सहमत क्षेत्रों में एकीकृत कार्यक्रम कार्रवाई (IPA) का शुभारंभ किया। ये क्षेत्र हैं– कृषि; ग्रामीण विकास; दूरसंचार; मौसम विज्ञान; और स्वास्थ्य और जनसंख्या गतिविधियां।

दो साल बाद, 8 दिसंबर 1985 को ढाका में आयोजित अपने पहले शिखर सम्मेलन में सदस्य राज्यों के राष्ट्राध्यक्षों या सरकारों ने चार्टर को औपचारिक रूप से अपने हस्ताक्षर करने के साथ दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) की स्थापना के लिए अपनाया। यह दक्षिण एशिया के लोगों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया था, ताकि उनकी आम समस्याओं के समाधान की तलाश में एक–दूसरे का सहयोग कर सकें। वर्तमान में सार्क में आठ सदस्य देश शामिल हैं; ये हैं : भारत, मालदीव, नेपाल पाकिस्तान, बांग्लादेश, भूटान, श्रीलंका और अफगानिस्तान। 2007 में अफगानिस्तान संगठन में सम्मिलित हो गया। इसके अतिरिक्त वर्तमान में सार्क में नौ पर्यवेक्षक राष्ट्र हैं– (i) ऑस्ट्रेलिया; (ii) संयुक्त राज्य अमेरिका (iii) यूरोपीय संघ; (iv) ईरान; (v) जापान; (vi) चीन; (vii) कोरिया गणराज्य; (viii) मॉरीशस; और (ix) म्यांमार। राज्य के प्रमुखों की बैठकें आमतौर पर वार्षिक होती हैं और विदेशी सचिवों की बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। सार्क का मुख्यालय काठमांडू, नेपाल में स्थित है।

सार्क चार्टर में निहित उद्देश्य, सिद्धांत और सामान्य प्रावधान इस प्रकार हैं–

सार्क के उद्देश्य– सार्क के चार्टर के अनुच्छेद 1 में सार्क के निम्नलिखित उद्देश्यों का वर्णन मिलता है–

- दक्षिण एशिया के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देना और उनके जीवन स्तर में सुधार करना।
- क्षेत्र में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक विकास में तेजी लाना और सभी व्यक्तियों के लिए एक गरिमापूर्ण जीवन जीने और अपनी पूरी क्षमता के पहचान करने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रयास करना।
- दक्षिण एशिया के देशों के बीच सामूहिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना और उसे मजबूत करना।
- एक दूसरे की समस्याओं के लिए आपसी विश्वास, समझ और सराहना में योगदान करना।
- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग और पारस्परिक सहायता को बढ़ावा देना।
- अन्य विकासशील देशों के साथ सहयोग को मजबूत करना।
- सामान्य हितों के मामलों पर अंतरराष्ट्रीय मंचों में आपस में सहयोग को बढ़ावा देना।
- समान उद्देश्य और लक्ष्यों के साथ अंतरराष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना।

सार्क चार्टर में उन सिद्धांतों को भी इंगित किया गया है जो विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्रीय सहयोग को नियंत्रित करते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 2 के अनुसार :

- संगठन के ढांचे के अंतर्गत सहयोग संप्रभु राष्ट्रों की समानता, क्षेत्रीय अखंडता, राजनीतिक स्वतंत्रता, अन्य राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना और पारस्परिक लाभ के सिद्धांतों के लिए सम्मान पर आधारित होगा;
- इस तरह का सहयोग द्विपक्षीय या बहुपक्षीय सहयोग को प्रतिस्थापित करने के लिए नहीं बल्कि समादर करने के लिए होगा;
- ऐसा सहयोग सदस्य राज्यों के द्विपक्षीय और बहुपक्षीय दायित्वों के अनुरूप होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सार्क के निम्न सामान्य सिद्धांत भी है–

- सार्क में सभी स्तरों पर निर्णय सर्वसम्मति के आधार पर लिए जाएंगें।
- द्विपक्षीय और विवादास्पद मुद्दों को सार्क के विचार–विमर्श से बाहर रखा जाना है।

सार्क का संस्थागत ढांचा

सार्क चार्टर के अनुसार संगठन को चलने के लिए निम्नलिखित संस्थागत या प्रशासनिक ढांचे की व्यवस्था की गयी है–

1. **शिखर सम्मेलन** : सार्क की संरचना के शीर्ष पर राष्ट्राध्यक्षों की बैठक है, जो सार्क के शिखर सम्मेलन के रूप में वर्ष में एक बार आयोजित की जाती है। यह वर्ष के लिए संगठन की नीतियों, कार्यक्रमों और गतिविधियों को खाका तैयार करती है। वास्तव में सार्क शिखर सम्मेलन मंत्री परिषद द्वारा बनाई गई नीतियों को मंजूरी देता है। अब तक 18 शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। भारत–पाकिस्तान के मध्य तनाव के कारण कई शिखर सम्मेलनों को स्थगित किया गया है।
2. **मंत्रिपरिषद** : परिषद में सदस्य–राज्य के विदेश मंत्री होते हैं, और ये संगठन की नीतियों और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के तरीकों को तैयार करने और विकसित करने के लिए वर्ष में दो बार मिलते हैं। आवश्यकतानुसार इसके अतिरिक्त भी सत्र आयोजित किये जा हैं। मंत्रिपरिषद संगठन की नीतियों के निर्माण के लिए जिम्मेदार होतें है। इसके अतिरिक्त प्रगति की समीक्षा करना, सहयोग के नए क्षेत्रों पर निर्णय लेना, आवश्यकता के रूप में अतिरिक्त तंत्र स्थापित करना और सार्क के लिए सामान्य हित के अन्य मामलों पर निर्णय लेना इसके कुछ प्रमुख कार्य हैं।
3. **स्थायी समिति** : स्थायी समिति प्रत्येक सदस्य–राज्य के विदेशी सचिवों से बनती है। स्थायी समिति को सार्क के कार्यक्रमों की समग्र निगरानी और समन्वय का काम सौंपा जाता है। यह समिति मुख्य रूप से इसकी नीतियों और परियोजनाओं के कार्यान्वयन के लिए जिम्मेदार है, जिसका वह पूरे वर्ष विश्लेषण और पर्यवेक्षण करती है और सहयोग के नए क्षेत्रों की पहचान करती है। यह मंत्री परिषद को एक वार्षिक रिपोर्ट भेजती है।

4. **तकनीकी समिति** : इसमें सभी देशों के प्रतिनिधि होते हैं। वर्तमान में, सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों में तेरह समितियां कार्यरत हैं। इनके कार्य मुख्यतः तकनीकी प्रकृति के होते हैं। ये अपने तय क्षेत्रों में कार्यक्रमों के कार्यान्वयन, समन्वय और मॉनीटिरिंग के लिए उत्तरदायी हैं।

5. **सचिवालय** : चार्टर द्वारा संगठन को एक सचिवालय प्रदान किया गया है। इसका अध्यक्ष महासचिव होता है जो दो वर्ष के लिए नियुक्त होता है। यह पद प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को बारी–बारी से दिया जाता है। यह पूरे क्षेत्र में सार्क गतिविधियों के समन्वय के लिए जिम्मेदार है। श्रीलंका के एच इ एसाला रूवान वेराकून ने 01 मार्च 2020 को दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) के महासचिव का पद ग्रहण किया।

इन मुख्य निकायों के अतिरिक्त सार्क की एक कार्यकारी समिति भी होती है। सार्क की नीतियों और योजनाओं को सुचारु संचालन के लिए बनायीं जाती है। इन समितियों के अलावा पांच क्षेत्रीय केंद्र भी इसके कार्यक्रमों के प्रसार के लिए स्थापित किये गए है। ये निम्नांकित हैं–

- सार्क एग्रीकल्चरल सेंटर (SAC), ढाका (बंग्लादेश)
- सार्क डिजास्टर मैनेजमेंट सेंटर, (SDMC) नई दिल्ली (भारत)
- सार्क ट्यूबरक्लोसिस एंड HIV/ऐड्स सेंटर (STAC), काठमांडू (नेपाल)
- सार्क कल्चरल सेंटर (SCC) कोलंबो, (श्रीलंका)
- सार्क एनर्जी सेंटर (SEC) (इस्लामाबाद)

इन क्षेत्रीय केंद्रों के अलावा सार्क सदस्य राज्यों ने सदस्य देशों में सार्क के निम्नलिखित विशिष्ट निकाय बनाए हैं। इन निकायों का प्रबंधन उनके संबंधित शासित बोर्डों द्वारा किया जाता है जो सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों से बने होते हैं। ये निम्नांकित हैं–

- सार्क आर्बिट्रेशन काउंसिल, इस्लामाबाद (पाकिस्तान)
- साउथ एशियन यूनिवर्सिटी नई दिल्ली (भारत)
- साउथ एशियन रीजनल स्टैण्डर्ड आर्गेनाईजेशन, ढाका (बांग्लादेश)
- सार्क डेवलपमेंट फण्ड, थिम्पू (भूटान)

सहयोग के क्षेत्र : सार्क चार्टर के अनुसार दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन के सहयोग के क्षेत्र हैं– कृषि, शिक्षा, सुरक्षा, संस्कृति और खेल, स्वास्थ्य, जनसंख्या और बाल कल्याण, पर्यावरण और मौसम विज्ञान, ग्रामीण विकास (सार्क युवा स्वयंसेवकों के कार्यक्रम सहित), पर्यटन, परिवहन, विज्ञान और तकनीक, संचार, ऊर्जा, विकास में महिलाएं और मादक पदार्थों की तस्करी और नशीली दवाओं के दुरुपयोग की रोकथाम।

सार्क चार्टर यह निर्धारित करता है कि निर्णय सर्वसम्मति से होने हैं और "द्विपक्षीय और विवादास्पद मुद्दों" से बचा जाना चाहिए।

सार्क के शिखर सम्मलेन

क्र.सं.	शिखर सम्मेलन	स्थान	देश	वर्ष
1.	प्रथम शिखर सम्मेलन	ढाका	बांग्लादेश	दिसम्बर 1985
2.	द्वितीय शिखर सम्मेलन	बंगलोर	भारत	नवम्बर 1986
3.	तृतीय शिखर सम्मेलन	काठमांडू	नेपाल	नवम्बर 1987
4.	चतुर्थ शिखर सम्मेलन	इस्लामाबाद	पाकिस्तान	दिसंबर 1988
5.	पांचवा शिखर सम्मेलन	माले	मालद्वीव	नवम्बर 1990
6.	छठा शिखर सम्मेलन	कोलंबो	श्रीलंका	दिसंबर 1991
7.	सातवां शिखर सम्मेलन	ढाका	बांग्लादेश	अप्रैल 1993
8.	आठवां शिखर सम्मेलन	नई दिल्ली	भारत	मई 1995
9.	नौवां शिखर सम्मेलन	माले	मालद्वीव	मई 1997
10.	दसवां शिखर सम्मलेन	कोलंबो	श्रीलंका	जुलाई 1998
11.	ग्यारहवां शिखर सम्मलेन	काठमांडू	नेपाल	जुलाई 2002
12.	बारहवां शिखर सम्मलेन	इस्लामाबाद	पाकिस्तान	जनवरी 2004
13.	तेरहवां शिखर सम्मलेन	ढाका	बांग्लादेश	नवम्बर 2005
14.	चौदहवां शिखर सम्मलेन	नई दिल्ली	भारत	अप्रैल 2007
15.	पन्द्रहवां शिखर सम्मलेन	कोलम्बो	श्रीलंका	अगस्त 2008
16.	सोलहवां शिखर सम्मलेन	थिम्पू	भूटान	अप्रैल 2010
17.	सत्रहवां शिखर सम्मलेन	आडू	मालद्वीव	नवम्बर 2011
18.	अठारहवां शिखर सम्मलेन	काठमांडू	नेपाल	नवम्बर 2014

स्रोतः सार्क की आधिकारिक वेबसाइट

इस प्रकार अब तक कुल अठारह सम्मलेन हुए हैं। 2014 के बाद से भारत–पाकिस्तान के विवादों के कारण उन्नीसवें सम्मलेन को स्थगित कर दिया गया। वार्षिक सम्मेलनों में अंतर की वजह भी मुख्य रूप से भारत पाकिस्तान के मध्य तनाव संबंध थे।

सार्क की उपलब्धियां :

सार्क की उपलब्धियों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- दक्षिण एशिया में राजनीतिक तनाव के बावजूद पिछले 35 वर्षों में, सार्क में ऐसे परिस्थितियां और ऐसी संस्थाएं और फोरम बनाये हैं जहां पर राष्ट्राध्यक्ष और राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर वार्तालाप संभव है। इसके अतिरिक्त सार्क की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि दक्षिण एशियाई राष्ट्रों को एक–दूसरे के करीब लाना और उनके अपने क्षेत्रीय मुद्दों और पहचान के बारे में सोचना है।

- सार्क राष्ट्रों के बीच आत्मविश्वास निर्माण के उपायों (कॉन्फिडेंस बिल्डिंग मेजर्स) को उच्चतम स्तर पर प्रस्तुत करके तनाव को कम करने में भी सफल रहा है। मुख्य क्षेत्रीय अभिकर्ताओं और आर्थिक संरचना द्वारा उत्पन्न की गई विभिन्न बाधाओं के बावजूद, सार्क ने न केवल अपने आप को बनाये रखा है, बल्कि धीरे–धीरे अपनी पहुंच का विस्तार भी किया है, विशेष रूप से व्यापार के क्षेत्र में।
- सार्क द्वारा "सार्क फूड बैंक" की स्थापना भी एक महत्वपूर्ण कदम है, जो मूल रूप से संकट का सामना करने या प्राकृतिक आपदा, बाढ़, भूकंप और ऐसे अन्य मुद्दों के लिए आपातकालीन स्रोत के रूप में भूमिका निभाने के लिए पहचाना जाता है। इस्लामाबाद में 14वें शिखर सम्मेलन में, दक्षिण एशिया के लोगों के लिए खाद्य सुरक्षा के लिए एकजुट होने और और उसके लिए रणनीति और योजनाएं बनाने के लिए हस्ताक्षर किये गए।
- सार्क तुलनात्मक रूप से वैश्विक क्षेत्र में एक नया संगठन है। सदस्य देशों ने एक मुक्त व्यापार क्षेत्र (एफटीए) की स्थापना की है जो उनके आंतरिक व्यापार को बढ़ाएगा और कुछ राज्यों के व्यापार अंतर को काफी कम कर देगा। सदस्य देशों के बीच व्यापार को बढ़ावा देने के लिए दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार समझौता (SAFTA) 1995 में लागू हुआ। दिसंबर 2005 में, SAFTA को मंजूरी दे दी गयी। यह केवल वस्तुओं तक सीमित है, सूचना तकनीकी सहित सभी सेवाओं को इसके द्वारा सम्मिलित नहीं किया गया है। 2016 तक सभी व्यापारिक वस्तुओं के सीमा शुल्क को शून्य करने के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए गए।
- सार्क ने दक्षिण एशियाई क्षेत्र के लिए महत्वपूर्ण विषयों जैसे सामाजिक चार्टर विकास समझौते और यहां तक कि आतंकवाद से लड़ने जैसे संवेदनशील विषय पर ध्यान केंद्रित किया है। खाद्य और विकास बैंक, परिवहन पर समझौता, ऊर्जा इत्यादि सही दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं।
- सार्क द्वारा दक्षिण एशियाई क्षेत्र के लोगों के कल्याण और उनकी सामाजिक आर्थिक प्रगति के लिए "सार्क डेवलपमेंट फंड" की स्थापना; शिक्षा में सहयोग हेतु दिल्ली में "दक्षिण एशिया विश्वविद्यालय की स्थापना"; तथा दक्षिण एशियाई राष्ट्रों के औद्योगिक, व्यापारिक और निवेश संबंधी विवादों को सुलझाने के लिए इस्लामाबाद में आर्ब्रिट्रेशन कॉउन्सिल की स्थापना क्षेत्रीय सहयोग और एकीकरण के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयास है।
- सार्क राष्ट्रों ने कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर सहयोग हेतु भी समझौते पर हस्ताक्षर किये हैं। ये निम्नांकित हैं–

  (क) आपराधिक मामलों पर परस्पर सहायता

  (ख) बाल कल्याण को बढ़ावा देना

  (ग) महिलाओं और बच्चों के क्रय–विक्रय (व्यापार) पर नियंत्रण

  (घ) मादक द्रव्यों पर नियंत्रण हेतु समझौता

  (ङ) आतंकवाद के दमन हेतु समझौता और आतंकवाद पर अतिरिक्त प्रोटोकॉल।

दक्षिण एशियाई अधिमान्य व्यापार समझौता (SAFTA)

साफ्टा समझौते पर 11 अप्रैल 1993 को सातवें सार्क शिखर सम्मेलन के दौरान सदस्य राज्यों के मंत्रियों द्वारा हस्ताक्षर किया गया और 1995 में लागू किया गया यह दक्षिण एशिया में मुक्त व्यापार समझौते के निर्माण हेतु पहला कदम था। समझौते में रियायतों के आदान–प्रदान के माध्यम से सार्क क्षेत्र के भीतर आपसी व्यापार और आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने और बनाए रखने के लिए सदस्य राज्यों की इच्छा को दर्शाया गया है। यह समझौता अंतर–क्षेत्रीय व्यापार के चरण–दर–चरण उदारीकरण के लिए प्रदान करने वाले नियमों का एक ढांचा प्रस्तुत करता है। यह प्रशुल्क और गैर शुल्क उपायों पर व्यापार रियायतों के आदान–प्रदान के लिए व्यापार वार्ता के आवधिक दौर की परिकल्पना करता है। यह सार्क क्षेत्र में कम विकसित देशों को विशेष और अनुकूल उपचार देने वाले प्रावधान भी शामिल थे। साफ्टा 2004 तक प्रभाव में था इसके पश्चात् इसे साफ्टा में परिवर्तित कर दिया गया।

सार्क की असफलताएं

दक्षिण एशियाई सदस्य राष्ट्रों के राजनीतिक अंतर–संघर्ष, आतंरिक मतभेद और खराब आर्थिक स्थिति के कारण पिछले 35 वर्षों के दौरान सार्क अपने महत्वाकांक्षी उद्देश्यों को पूरा करने में बहुत अधिक सफल नहीं रहा है। अधिकांश नीतियां, योजनाएं, कार्यक्रम और उपलब्धियां केवल आधिकारिक दस्तावेजों तक सीमित हैं। बहुत सी गतिविधियां केवल एजेंडा तैयार करना, कागजात तैयार करना और कार्यशालाएं आयोजित करने तक सीमित है और उसमें वास्तविक सहयोग और कार्यान्वयन का आभाव दीखता है।

सदस्य राष्ट्रों के यहां भूकंप, बाढ़ और चक्रवात जैसे सबसे विनाशकारी प्राकृतिक आपदा के समय, प्रभावित लोगों की मांगों को पूरा करने के लिए सार्क के खाद्य सुरक्षा रिजर्व का इस्तेमाल नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त 35 वर्षों में, द्विपक्षीय और आंतरिक दोनों स्तरों पर राजनीतिक कारणों से, केवल 18 शिखर सम्मलेनों का ही आयोजन हो सका है। प्रत्येक वर्ष वार्षिक शिखर सम्मेलन आयोजित करने में सार्क विफल रहा है। आखिरी सम्मेलन 2014 में हुआ है उसके पश्चात भारत पाकिस्तान में विवाद के चलते सम्मेलन नहीं हो सका है।

दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार समझौता

साफ्टा समझौते पर 2004 में सार्क देशों के बीच व्यापारिक और आर्थिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से सदस्य राष्ट्रों द्वारा हस्ताक्षर किये गए और जनवरी 2006 में इसे लागू किया गया। इसका उद्देश्य व्यापार बाधाओं को कम करके वस्तुओं के आदान–प्रदान को बढ़ाने, मुक्त व्यापार में एक निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देने, सभी सदस्य राष्ट्रों को व्यापार के अवसर प्रदान करने, इसके कार्यान्वयन हेतु एक प्रशासनिक संरचना उपलब्ध कराने के साथ एक उपयुक्त तंत्र के द्वारा इसके लाभों को सभी सदस्य देशो को प्रदान करना है। हालांकि साफ्टा पर एक अग्रिम, साफ्टा सार्क सदस्यों के व्यापार संबंधों में उल्लेखनीय सुधार नहीं कर पाया है।

दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में जहां मुक्त व्यापक के क्षेत्र में प्रगति देखा जा सकती है जिसने आर्थिक सहयोग को मजबूत करने का कार्य किया है वही सार्क मुक्त व्यापार

समझौते के साथ भी विफल रहा है। साफ्टा की परिकल्पना धीरे–धीरे दक्षिण एशियाई आर्थिक संघ की ओर बढ़ने की थी, लेकिन वर्तमान अंतर–क्षेत्रीय व्यापार और निवेश संबंध उत्साहजनक नहीं हैं और इस लक्ष्य को हासिल करना मुश्किल हो सकता है। सार्क के अंतर–क्षेत्रीय व्यापार दक्षिण एशिया में समग्र व्यापार में अंतर–क्षेत्रीय व्यापार की हिस्सेदारी पर केवल पांच प्रतिशत है। इसी तरह, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भी निराशाजनक है। अंतर–क्षेत्रीय एफडीआई प्रवाह कुल विदेशी निवेश का लगभग चार प्रतिशत है।

एशियाई विकास बैंक ने अनुमान लगाया है कि सार्क क्षेत्र में अंतर–क्षेत्रीय व्यापार में कृषि निर्यात प्रति वर्ष $ 14 बिलियन से $ 8 बिलियन के मौजूदा स्तर से $ 22 बिलियन तक की क्षमता का है। एशियाई विकास बैंक द्वारा किए गए अध्ययन में कहा गया है कि प्रति वर्ष 22 अरब डॉलर के संभावित औसत सार्क अंतर–क्षेत्रीय व्यापार के खिलाफ, दक्षिण एशिया में वास्तविक व्यापार केवल 8 अरब डॉलर के आसपास रहा है।

यूरोपीय संघ, आसियान और उत्तरी अमेरिकी व्यापार समझौते एक उच्च स्तर के क्षेत्रीय सहयोग के और अन्योन्याश्रय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इन क्षेत्रों के लोगों के जीवन स्तर और उनकी नागरिक स्वतंत्रता के संरक्षण में तेजी से वृद्धि देखी गई। इसकी तुलना में, दक्षिण एशियाई में क्षेत्रीय सहयोग का एक खराब स्तर देखने को मिला है। इसका मुख्य कारण सदस्य राष्ट्रों की राजनीतिक अस्थिरता, आपसी विश्वास और सामाजिक एकजुटता का अभाव, राष्ट्रों के मध्य के आपसी द्विपक्षीय संबंध, सार्क के लिए राष्ट्रों के दृष्टिकोणों में भिन्नता है। भारत–पाकिस्तान के बीच शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध, आतंकवाद, शरणार्थी समस्या भारत की प्रभुत्वशाली स्थिति भी सार्क के सफल होने के मार्ग में चुनौती प्रस्तुत कर रही है।

निष्कर्ष

मूल रूप से, सार्क का विचार दक्षिण एशियाई राज्यों के सहयोग के माध्यम से शांति, सद्भाव और आर्थिक विकास को बढ़ावा देना है, उपलब्ध संसाधनों को साझा करना और राष्ट्रों के बीच विश्वास का निर्माण करना और राजनीतिक नेताओं के बीच सहयोग और नियमित संपर्क की सुविधा प्रदान करना है। दो प्रतिद्वंदी राष्ट्रों के बीच तनाव ने सार्क सहयोग को बहुत नुकसान पहुंचाया है। दक्षिण एशिया की सुरक्षा, उपलब्धियों और विकास के लिए राष्ट्रों के मध्य बड़े स्तर पर सहायता और सहयोग अनिवार्य है। यह मुख्यतः निर्भर करता है दक्षिण एशियाई राष्ट्रों के दृष्टिकोण और सार्क सदस्यों का व्यवहार तथा नीतियों पर जो क्षेत्र में सहयोग के स्तर का विस्तार करने के लिए बनायीं गयी हैं। दक्षिण एशिया के लोगों के बीच घनिष्ठ समझ बनाने के लिए कुछ गंभीर प्रयास करने और भाईचारे की भावना को बढ़ावा देने जो इस क्षेत्र की शांति और सद्भाव के संरक्षण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, की जरुरत है। दक्षिण एशिया के लिए महत्वपूर्ण है इस संगठन को मजबूत करना। सार्क की कमजोरियों के बावजूद, यह एकमात्र ऐसा मंच है जहां दक्षिण एशियाई नेता विश्व की सर्वाधिक जनसंख्या के साथ स्थानीय समस्याओं पर बात करने के लिए इकट्ठा होते हैं। सभी सदस्य देशों द्वारा क्षेत्र में शांति और स्थिरता बनाए रखने के लिए संगठन की क्षमता का पता लगाया जाना चाहिए। दक्षेस को स्वाभाविक रूप से प्रगति करने की अनुमति दी जानी चाहिए और दक्षिण

एशिया के लोग, जो दुनिया की आबादी का एक चौथाई हिस्से का निर्माण करते हैं, को अधिक से अधिक लोगों का लोगों से संपर्क की पेशकश की जानी चाहिए।

3.2.2 यूरोपीय यूनियन

वर्तमान में वैश्विक शासन संस्थाओं के स्तर पर क्षेत्रीय संगठन अपने अधिकारों के साथ एक महत्वपूर्ण अभिकर्ता के रूप में सामने आये हैं। अगर अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद की बात की जाए तो यूरोपियन राष्ट्रों का एक संघ, जिसे हम यूरोपीय यूनियन के नाम से जानते हैं, अब तक तक क्षेत्रवाद के सबसे उत्तम स्वरुप को प्रस्तुत करता है। यूरोपीय संघ (EU) एक राजनीतिक और आर्थिक साझेदारी है जो संप्रभु देशों के बीच सहयोग के एक अद्वितीय रूप का प्रतिनिधित्व करता है। यूरोपीय यूनियन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शुरू हुए एकीकरण की प्रक्रिया का नवीनतम चरण है, शुरू में यह छह पश्चिमी यूरोपीय देशों द्वारा, अन्योन्याश्रितता को बढ़ावा देने और यूरोप में एक और युद्ध के खतरे को कम करने के लिए बनाया गया था। यूरोपीय संघ में वर्तमान में 27 सदस्य राज्य हैं (31 जनवरी 2020 को यूनाइटेड किंगडम ने यूरोपीय यूनियन की सदस्यता छोड़ दी), जिनमें मध्य और पूर्वी यूरोप के अधिकांश देश शामिल हैं, और इसके निर्माण ने पूरे यूरोपीय महाद्वीप में शांति, स्थिरता और आर्थिक समृद्धि को बढ़ावा देने में मदद की है।

यूरोपीय यूनियन का इतिहास

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोप के राष्ट्रों में मजबूत विद्रोह विकसित हो गए थे। अमेरिका ने "मार्शल प्लान के द्वारा यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए धन जारी किया। अमेरिका ने 1948 से 1952 तक लगभग 200 बिलियन डॉलर की मदद की जिससे यूरोप का पुनर्निर्माण हुआ। इससे यूरोप में एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ। अमेरिका द्वारा दी गई सहायता को एक नए संगठन द्वारा प्रशासित किया गया, जिसे यूरोपीय आर्थिक सहयोग के लिए संगठन (OECD) के रूप में जाना जाता है। 1950 के दशक में ओईसीसी के अंतर्गत व्यापार पर प्रतिबंधों को समाप्त किया जा रहा था और यूरोपीय देश व्यापार और आर्थिक मामले में सहयोग बढ़ रहा था। यूरोपीय यूनियन एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम का है जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शुरू हुई। नीचे हम क्रमबद्ध तरीके से इसको देखने का प्रयास कर रहे हैं–

- व्यापक सहयोग और एकीकरण की दिशा में पहला कदम 1952 में यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय (ECSC) की स्थापना थी जिसका उद्देश्य कोयला, इस्पात और लौह अयस्क के लिए बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड और लक्समबर्ग बीच एक साझा बाजार का निर्माण था। इसका विचार सर्वप्रथम फ्रांस के विदेश मंत्री रॉबर्ट शुमन ने 1950 में रखा था। 18 अप्रैल 1951 में पेरिस में यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय की स्थापना संधि पर हस्ताक्षर किए गए थे और 1952 में इसे लागू किया गया। इसे पेरिस की संधि के नाम से जाना जाता है। यह संधि 2002 में समाप्त हो गयी।
- एक और संधि के द्वारा 1952 में इन ECSC के छह राष्ट्रों ने एक यूरोपियन सुरक्षा समुदाय की स्थापना की जिसका उद्देश्य एक संयुक्त सैन्य कमान की

स्थापना था। किंतु फ्रांस और ब्रिटेन के बीच मतभेद की वजह से इसका कार्यान्वयन नहीं हो सका।

- अगला कदम ईसीएससी के छह राष्ट्रों द्वारा 1957 में रोम की संधि पर हस्ताक्षर करना था, उसी वर्ष यूरोपीय परमाणु ऊर्जा समुदाय (EURATOM) का भी गठन किया गया था। इसके छह सदस्यों ने अपने परमाणु अनुसंधान और विकास कार्यक्रमों के समन्वय से अपने परमाणु ऊर्जा संसाधनों के सामान्य विकास का वादा किया। इसके साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) का भी गठन किया गया जिसका उद्देश्य एक साझे बाजार द्वारा वस्तुओं, सेवाओं और पूंजी के इन छह राष्ट्रों में मुक्त प्रवाह को सुनिश्चित करना था।
- 1965 में EEC के सदस्यों ने ब्रसेल्स संधि पर हस्ताक्षर किए, जिसमें EEC, EURATOM और ECSC के उच्च प्राधिकरण के कमीशन को एक ही आयोग में मिला दिया गया। इसने तीनों संगठनों की परिषदों को एक समान मंत्रिपरिषद में शामिल किया। EEC, EURATOM और ECSC को सामूहिक रूप से यूरोपीय समुदाय के रूप में जाना जाता है जो बाद में यूरोपीय संघ के प्रमुख संस्थान बन गए।
- 1973 में तीन और राष्ट्र ब्रिटेन, आयरलैंड और डेनमार्क यूरोपीय समुदाय में सम्मिलित हुए। इसके बाद ग्रीस ने 1981 में और पुर्तगाल और यूरोप ने 1986 में इसकी सदस्यता ग्रहण की।
- फरवरी 1986 में एकल यूरोपीय अधिनियम (SEA) पर हस्ताक्षर किए गए और जिसे 1987 में लागू किया गया। इसने रोम केसंधि में संशोधन किया और एकल बाजार के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। इसने यूरोप के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- यूरोपीय यूनियन (E U) की संधि जिसे मैस्ट्रिच संधि के नाम से जाना जाता है, 7 फरवरी 1992 को मैस्ट्रिच में हस्ताक्षरित की गई और 1993 में लागू हुई। इसने यूरोपीय संघ की स्थापना की, जिसमें यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ–साथ सामान रक्षा और विदेश नीति तथा घरेलू और न्याय के मामलों के सामान्य क्षेत्रों में सहयोग के दो अन्य स्तंभ थे।
- एम्स्टर्डम की संधि पर 2 अक्टूबर 1997 को हस्ताक्षर किए गए थे और 1999 में लागू हुआ था। इसमें पिछली संधियों में संशोधन किया गया।
- यूरोपियन यूनियन में 2004 में, बारह और देश शामिल हुएः साइप्रस, चेक गणराज्य, एस्टोनिया, हंगरी, लातविया, लिथुआनिया, माल्टा, पोलैंड, स्लोवाकिया और स्लोवेनिया। बुल्गारिया और रोमानिया 2007 में शामिल हुए।
- नीस की संधि पर 26 फरवरी 2001 को हस्ताक्षर किए गए और 2003 में लागू हुए। इसने यूरोपीय संघ की संस्थागत प्रणाली को सुव्यवस्थित किया, ताकि 2004 में सदस्य राज्यों की नई लहर में शामिल होने के बाद यह प्रभावी रूप से काम कर सके।

टिप्पणी

- लिस्बन की संधि पर 13 दिसंबर 2007 को हस्ताक्षर किए गए थे और 2009 में इसे लागू किया गया। इसने काम करने के तरीके और मतदान के नियम को सरल किया, यूरोपीय परिषद का अध्यक्ष बनाए और यूरोपीय संघ को वैश्विक मंच पर एक मजबूत अभिनेता बनाने की दृष्टि से नई संरचनाएं प्रस्तुत की गयीं। लिस्बन की संधि ने यूरोपीय संसद की शक्तियों में वृद्धि की। इसने यूरोपीय संघ को अंतरराष्ट्रीय संधियों पर बातचीत करने और हस्ताक्षर करने का कानूनी अधिकार दिया। इसने यूरोपीय संघ की शक्तियों, सीमा नियंत्रण, आव्रजन, नागरिक और आपराधिक मामलों में न्यायिक सहयोग और पुलिस सहयोग में वृद्धि की।

यूरोपीय यूनियन के लक्ष्य और मूल्य

यूरोपीय यूनियन के निम्नलिखित लक्ष्य हैं :

- शांति, उसके मूल्यों और अपने नागरिकों के कल्याण को बढ़ावा देना।
- आंतरिक सीमाओं के बिना स्वतंत्रता, सुरक्षा और न्याय प्रदान करते हैं।
- सतत आर्थिक विकास और मूल्य स्थिरता, पूर्ण रोजगार और सामाजिक प्रगति के साथ एक अत्यधिक प्रतिस्पर्धी बाजार अर्थव्यवस्था और पर्यावरण संरक्षण पर आधारित सतत विकास।
- सामाजिक बहिष्कार और भेदभाव का मुकाबला करना।
- वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति को बढ़ावा देना।
- यूरोपीय संघ के देशों के बीच आर्थिक, सामाजिक और क्षेत्रीय सामंजस्य और एकजुटता को बढ़ाना।
- इसकी समृद्ध सांस्कृतिक और भाषाई विविधता का सम्मान करना।
- एक आर्थिक और मौद्रिक संघ की स्थापना करना जिसकी मुद्रा यूरो है।

यूरोपीय यूनियन के मूल्य यूरोपीय लोगों की जीवन शैली के अभिन्न अंग हैं। ये निम्नलिखित हैं–

- **मानव गरिमा** : मानवीय गरिमा अनुल्लंघनीय है। इसका सम्मान किया जाना चाहिए, संरक्षित किया जाना चाहिए और यह मौलिक अधिकारों का वास्तविक आधार होना चाहिए।
- **स्वतंत्रता** : आने–जाने की स्वतंत्रता नागरिकों को संघ के भीतर स्वतंत्र रूप से स्थानांतरित करने और निवास करने का अधिकार देती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे कि निजी जीवन के लिए सम्मान, विचार की स्वतंत्रता, धर्म, सभा करने, अभिव्यक्ति और सूचना को "EU चार्टर ऑफ फंडामेंटल राइट्स" द्वारा संरक्षित किया जाता हैं।
- **लोकतंत्र** : यूरोपीय संघ का कामकाज प्रतिनिधि लोकतंत्र पर आधारित है। यूरोपीय नागरिक होने का मतलब राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति भी है। यूरोपीय संघ के प्रत्येक नागरिक को एक उम्मीदवार के रूप में खड़े होने और

ZMNVLK ODOQ GVSXNRDHDHUQX GMXVGNYI´NGNMJ6$ ZMNVLK ODNGV XN[IMGNDGNP(HQRMGV L HD>N0VJMXVYNMYLXVQNHD@ NYLXVHZ QV N HVD HUQNX GMXV GN YI´NGNM J6$

YDUMMN 9•K MNWXKIU ^NV RNQ@ ^NV K OJ N OD[%X RD NKU T

x OHNXUN GNXZX GV OH^N O+NK XN[IMGNVD GV I OVQ(FD´NUJ6$ HJ\ NYNDYNMLT NDGVFHS OHXUNGNO ND O+NK ZMNVLK XHU NDGNHWFZ GMUNJ6YNM ZMNVLK GKGMNGNY´NMJ6$ J O+NK ^NVNDHD N[ZJNUNJ6$ OHX GNHGV\ OHX RUX GNIO ND HD MNHGKOD´NGNJ/ONFX[N$JN NDG(8 HDYOHXUNDY+NK+NKHNVZQ J6D@ IG8UT ZMNVLK OD"N XV EOHVD HJ5RLZ N= ³[I

x ZMNVLK OD"N GNXZX GV NNOX LM YN´NNI OD"N GV O+NK GN = POGK ODI´N NVD LM YN´NNIMU \NGUNDG L OV ZMNVLK ODNGVQVNDGKOJHUJNUKJ6$ G/RUD 8 N LNI\GN `NMN GNXZX YN6M 8 N GNV GN H M>NN V GVQVNDKV ZMNL X GN9=Y64 W/9O GNYDUHYI´NGNMYV IQ N@VOGV IX N= NVD GN O+NK GV `NMN O(HNX IG N WNUN J6$

x HNXRNI´NGNMNVD GK M^NN ª ZMNVLK ZIX 4DNHD MNE9a«`NMNGKWNUKJ6$ V\[D@X\K NWNUK HZ@NH= N IR RNO@ IRG\ND[UN@ PH] N N6X YI+NIR8 NO GV Y JNVXV GV YI´NGNM@ 2 I°[U OZSXN GK OTM^NN GN Y LJTDS LNXV GN YI´NGNM GNV OI(HI\U GMUN J6$

EX \^ NVD YN6M HZ<(8 VGDV GHNV6I\GFXI´GNKGNDNDN´NWDYGNV6M SN9H=YMD OI(HI\U IG N [N J6 YN6M V ZMNVIL X ZIX X G

ZMNVLK ZX XGE8• LZ N= L OV GKsU YN6M GN =GNMK ^NV K OD J6$ EOGK YLXK ODOQ@ 8 NI G ³ NN\K@ /R D GK HT²N J6 ONHDV LZN=HRQNXKU FXNXVGK^NHUNJ6$ RU=HX HDEOGV OQ´ MN J6D ZMNVLK ODNHDMNH\ J6D

ZMNVLK ODOQ@ ZMNVLK ZIX X XN[IMGNVD GN ³IUIXI´N5R GMUK J6 YN6M PXGV `NMN WNUK J6$ ZMNVLK ODOQ ZMNVLK ZIX X GK GNXZ Y´ ^N ZMNVLK ZIX X GV ODOQ GN ³IUIXI´N5R GMUN YDIUH L QVUN J6$

EOHVD ZMNVLK ZIX X GV QV NNV MN7 N OMGNM GV ³HT>N JNVUV J6D$ ZMNVLK GN XVUNYNVD GNV EOGV MNWXKIUG WVD0V GNV U GMX J ZMNVLK ZIX X GV QV NNVD GV FKS MNWXKIUG O ³IUXI´N5R GMUNJ6$ J ZMNVLK ZX X GKOH[]IQNNYNMNVXKUG

/R YI´N[H LN%a ONH[]K

यूरोपीय यूनियन का विस्तार

यूरोपीय यूनियन अपने विस्तार की प्रक्रिया को यूरोप में स्थिरता और समृद्धि को बढ़ावा देने के लिए एक असाधारण अवसर के रूप देखता है। 2004 से, यूरोपीय यूनियन की सदस्य संख्या 15 से 28 देशों में बढ़ी है, जिसमे पूर्वी और मध्य यूरोप के अधिकांश राज्यों द्वारा सदस्यता ग्रहण की गयी है। यूरोपीय संघ ने यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय के रूप में 1952 में छह सदस्यों (फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड और लक्समबर्ग) द्वारा यूरोप के एकीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत की थी। 1973 में यूनाइटेड किंगडम, डेनमार्क, और आयरलैंड यूरोपीय समुदाय में शामिल हो गए। ग्रीस 1981 में शामिल हुआ, जिसके बाद 1986 में स्पेन और पुर्तगाल इसके सदस्य बने। 1995 में ऑस्ट्रिया, स्वीडन और फिनलैंड ने वर्तमान यूरोपीय संघ की सदस्यता ली। 2004 में, यूरोपीय संघ ने आठ पूर्व साम्यवादी देशों, हंगरी, चेक–गणराज्य, पोलैंड, एस्टोनिया, लातविया, लिथुआनिया, स्लोवाकिया माल्टा और साइप्रस का यूनियन के सदस्य के रूप में स्वागत किया। वर्ष 2007 में बुल्गारिया और रोमानिया तथा क्रोएशिया 1 जुलाई, 2013 को यूरोपीय संघ के सदस्य बने। यूरोपीय संघ की सदस्यता का पात्र होने के लिए, देशों को पहले स्थापित मानदंडों का समूह को पूरा करना होगा, जिसमें एक कार्यशील लोकतंत्र और बाजार अर्थव्यवस्था शामिल है। एक बार जब कोई देश आधिकारिक उम्मीदवार बन जाता है, तो एक लंबी और जटिल प्रक्रिया से गुजरना होता है जिसमें आवेदक को यूरोपीय संघ के कानूनों और विनियमों का एक विशाल निकाय अपनाना पड़ता है। विश्लेषकों का मानना है यूरोपीय यूनियन के विस्तार की प्रक्रिया यूरोपीय संघ के सबसे शक्तिशाली नीतिगत उपकरणों में से एक है जिसने पिछले कुछ वर्षों में कई यूरोपीय देशों को अधिक लोकतांत्रिक और समृद्ध समाजों में बदलने में की है। इसके साथ ही यूरोपीय संघ का विस्तार एक राजनीतिक प्रक्रिया भी है। यूरोपीय यूनियन के अनुसार उसकी सदस्यता का द्वार किसी भी यूरोपीय देश के लिए खुला है जो इसकी सदस्यता के लिए यूरोपीय संघ के राजनीतिक और आर्थिक मानदंडों को पूरा करता है।

यूरोपीय यूनियन के सदस्य देश

यूरोपीय संघ (ईयू) एक राजनीतिक और आर्थिक संघ है, जिसमें 27 सदस्य राज्य शामिल हैं जो सदस्यता के दायित्वों और विशेषाधिकारों के अधीन हैं। ये देश हैं– ऑस्ट्रिया, बेल्जियम, बुल्गारिया, क्रोएशिया, साइप्रस, चेक गणराज्य, डेनमार्क, एस्तोनिया, फिनलैंड, फ्रांस, जर्मनी, ग्रीस, हंगरी, आयरलैंड, इटली, लातीविया, लिथुआनिया, लक्जमबर्ग, माल्टा, नीदरलैंड, पोलैंड, पुर्तगाल, रोमानिया, स्लोवाकिया, स्लोवेनिया, स्पेन, स्वीडन। ब्रिटेन ने 2016 के जनमत संग्रह के बाद यूरोपीय यूनियन से अपनी सदस्यता समाप्त कर दी है।

यूरोपीय यूनियन की भूमिका का मूल्यांकन

यूरोपीय यूनियन के रूप में यूरोप का एकीकरण क्षेत्रीय सहयोग और क्षेत्रवाद का सबसे सफल प्रयोग माना जाता है। यूरोपीय यूनियन की अनूठी विशेषता यह है कि, ये सभी संप्रभु और स्वतंत्र देशों का संगठन हैं, किन्तु सदस्य देशों ने अपनी शक्ति को और

टिप्पणी

मजबूत करने एवं और आकार के लाभों को हासिल करने के लिए अपनी कुछ 'संप्रभुता' सौप दी है। अर्थात सदस्य राज्यों ने अपनी निर्णय लेने की कुछ शक्तियां उनके द्वारा बनाई गई साझा संस्थानों को सौंप दी हैं, ताकि यूरोपीय स्तर पर संयुक्त हित के विशिष्ट मामलों पर निर्णय लोकतांत्रिक तरीके से किए जा सकें। यूरोपीय संघ इस प्रकार संयुक्त राज्य में पाए जाने वाले पूरी तरह से संघीय प्रणाली और संयुक्त राष्ट्र में देखी जाने वाली ढीली, अंतर–सरकारी सहयोग प्रणाली के बीच स्थित है।

यूरोपीय यूनियन ने 1950 में इसे बनाने के बाद बहुत कुछ हासिल किया है। यह न केवल सदस्यों के बीच टैरिफ समायोजन की समस्याओं को हल करने और उनके बीच अधिक से अधिक सहयोग सुनिश्चित करने में सक्षम रहा है बल्कि आर्थिक विकास के क्षेत्र में दुनिया के अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव डालता है। बहुत हद तक दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में अधिक से अधिक आर्थिक सहयोग के लिए क्षेत्रीय संगठनों को विकसित करने के विचार ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सफलता से प्रेरणा प्राप्त की। समुदाय के भीतर एक नए सीमा–मुक्त एकल बाजार के निर्माण से सभी देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं में व्यापार की बाधाओं को दूर करने में मदद मिली है। यहां तक कि यात्री नए एकल बाजार में भी स्वतंत्र रूप से घूम सकते हैं और बैंकर कहीं भी नई शाखाएं खोलने के लिए स्वतंत्र हैं। श्रमिक और पेशेवर भी एक देश से दूसरे देश में स्वतंत्र रूप से घूम सकते हैं।

यूरोपीय यूनियन की एकल मुद्रा "यूरो" अब एक प्रमुख विश्व मुद्रा बन गयी है, और जो एकल बाजार को और अधिक कुशल बनाती है। यह दुनिया में विकास और मानवीय सहायता कार्यक्रमों का सबसे बड़ा आपूर्तिकर्ता भी है। इन उपलब्धियों के अलावा यूरोपीय संघ यूरोप को वर्तमान आर्थिक संकट से बाहर निकालने के लिए काम कर रहा है। यह जलवायु परिवर्तन और इसके परिणामों के खिलाफ लड़ाई में सबसे आगे है। जैसे–जैसे यह अपने विस्तार की योजना बना रहा है, पड़ोसी देशों को यूरोपीय संघ की सदस्यता के लिए खुद को तैयार करने में भी सहायता कर रहा है। यूरोपीय यूनियन के सदस्य राष्ट्रों के लिए यह एक सामान्य विदेश नीति का निर्माण कर रहा है। हालांकि वर्तमान में यूरोपीय यूनियन को कुछ चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। पश्चिम एशिया में सीरिया से आये शरणार्थियों को लेकर सदस्य राष्ट्रों में विवाद उत्पन्न हुए है। इंग्लैंड का यूरोपियन यूनियन से अलग होना भी इसके विस्तार को एक आघात देता है, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप अन्य देश भी अलगाव के मार्ग पर जा सकते हैं। वर्तमान में आतंकवादी गतिविधियों ने भी इसके लिए एक चुनौती प्रस्तुत की है। इन चुनौतियों के बावजूद हमें यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि यूरोपीय यूनियन के पास वैश्विक मामलों एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की क्षमता है। यूरोपीय यूनियन की विश्व मंच पर दृश्यता और प्रभाव इसकी अपनी नीतियों में एकता जैसे, इसकी व्यापार नीति, प्रतियोगिता नीति और दुनिया के सबसे बड़े बाजार के लिए जो मानक निर्धारित करता है उससे स्पष्ट होती है। यूरोपीय यूनियन की बड़ी संख्या में दूसरे देशों में विश्वसनीय और प्रभावशाली उपस्थिति इसकी प्रभावशीलता को और इसकी विदेश नीति की कुशलता को दर्शाती है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. सार्क की स्थापना, ढाका में कब की गई?

   (क) 8 दिसंबर 1985 (ख) 10 दिसंबर 1985

   (ग) 20 दिसंबर 1985 (घ) 25 दिसंबर 1985

2. जनमत संग्रह के बाद ब्रिटेन ने यूरोपीय यूनियन से अपनी सदस्यता कब समाप्त कर दी?

   (क) सन् 2014 (ख) सन् 2015

   (ग) सन् 2016 (घ) सन् 2018

3.3 अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता

असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता एक राष्ट्र की विदेशी मामलों में अपनी एक स्वतंत्र नीति से है जिससे वह अंतरराष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्रता पूर्वक अपने विचार रख सके और अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप निर्णय ले सके। यह विश्व की महाशक्तियों के गुटों की राजनीति से मुक्त करके एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण की मांग करती है जो विकसित और विकासशील राष्ट्रों के मध्य सहयोग और संवाद को प्रोत्साहित करते हुए संप्रभुता, स्वतंत्रता और राज्यों के मध्य समानता के आधार पर अंतरराष्ट्रीय राजनीति का संचालन करे।

असंलग्नता शब्द का कोई सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत व्यापक अर्थ नहीं है। यह सकारात्मक और नकारात्मक तत्वों का मिश्रण है। नकारात्मक अर्थ में असंलग्नता शीत युद्ध के गठजोड़ों और गुटों से दूर रहना है। असंलग्नता के इस अर्थ ने बड़े पैमाने पर प्रभाव डाला और असंलग्नता की गलत अवधारणा को जन्म दिया। सकारात्मक अर्थ में असंलग्नता से तात्पर्य अंतरराष्ट्रीय मसले पर बिना किसी भय के अपना स्वतंत्र निर्णय व्यक्त करने से है। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार 'यह एक नकारात्मक नीति नहीं है। यह एक सकारात्मक है, और मुझे उम्मीद है कि यह एक गतिशील नीति भी है। लेकिन, जहां तक आज के सैन्य युद्ध और शीत युद्ध का सवाल है, हम खुद को किसी भी गुट के साथ जोड़ते नहीं हैं। किंतु यह विचार अपने आप में एक नीति नहीं है, यह केवल नीति का एक हिस्सा है।'

कई विद्वान असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय तटस्थता या अलगाववाद की नीति से लेते हैं। किंतु असंलग्नता तटस्थता या अलगाववाद नहीं है। एक तटस्थ देश एक ऐसा राज्य है जो एक विशिष्ट युद्ध में रत राष्ट्रों के प्रति तटस्थ है या भविष्य के सभी संघर्षों में स्थायी रूप से तटस्थ है। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार असंलग्नता कोई तटस्थता की नीति नहीं है क्योंकि तटस्थ राष्ट्रों के कोई अपने विचार नहीं होते। जबकि गुटनिरपेक्षता अपने राष्ट्रीय हितों और गुण एवं दोषों के आधार पर वैश्विक मसलों पर निर्णय लेती है। इसी प्रकार यह अलगाववाद से भी भिन्न अवधारणा है, क्योंकि अलगाववाद विश्व राजनीति में कम से कम भाग लेने या उससे बिलकुल अलग

रहने का सिद्धांत है जबकि गुटनिरपेक्षता का आशय विश्व के प्रत्येक मुद्दे पर उसके सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं के आधार पर सक्रिय सहभागिता है। इस प्रकार गुटनिरपेक्षता का मुख्य लक्ष्य विश्व शांति और सुरक्षा और मानव मात्र की समृद्धि है, और राष्ट्रीय संप्रभुता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए और नए अंतरराष्ट्रीय आर्थिक की स्थापना के लिए विकासशील देशों की स्वतंत्रता को मजबूत करने के लिए सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष है।

गुटनिरपेक्षता पर विद्वानों के विचार और परिभाषाएं

- जार्ज स्वार्जनबर्गर ने गुटनिरपेक्षता के कई अर्थ बताये जैसे–अलगाववाद, तटस्थता, तटस्तीकरण, अप्रतिबद्धता, एकपक्षवाद और असंलग्नता।
- अप्पादुराई के अनुसार, "असंलग्नता किसी भी देश के साथ और विशेष रूप से पश्चिमी या साम्यवादी गुट के किसी भी देश के साथ सैन्य गठजोड़ में प्रवेश नहीं करना है।"
- एम.एच. राजन के अनुसार, "विशेष रूप से और नकारात्मक रूप से गुटनिरपेक्षता का अर्थ था सैन्य या राजनीतिक गठबंधनों की अस्वीकृति। सकारात्मक रूप से इसका मतलब है कि अंतरराष्ट्रीय समस्याओं पर तदर्थ निर्णय लेना।

'गुट–निरपेक्ष' शब्द का पहली बार इस्तेमाल 1954 में किया गया था, लेकिन इसका विचार जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितंबर, 1946 को भारत की विदेश नीति पर अपने पहले सार्वजनिक बयान में अपनाया था। उन्होंने तब कहा था, 'हम प्रस्तावित करते हैं, जहां तक संभव हो, समूहों के शक्ति गुटों और एक दूसरे के खिलाफ गठबंधन से दूर रहें, जो अतीत में विश्व युद्धों के लिए कारण बने हैं। "द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, नए स्वतंत्र देशों के सामने मुख्य समस्या यह थी कि वे अपनी स्वतंत्रता को साम्यवाद या पूंजीवादी विरोधी नहीं बनाए रखें। ये देश गरीब देशों का एक समूह थे और वे गरीबी, खाद्य सुरक्षा से लड़ना चाहते थे। वे किसी भी गुटों के हाथ में नहीं खेलना चाहते थे। इसीलिए नेहरू गुटनिरपेक्ष नीति के पक्षधर थे। नेहरू का मानना था कि विकासशील देशों को शक्ति की राजनीति की तुलना में विकास और प्रगति पर चिंतित होना चाहिए। अप्रैल से जुलाई 1945 में, जब संयुक्त राष्ट्र का सम्मेलन सैन फ्रांसिस्को में था, तब एशिया और अफ्रीका के कई प्रतिनिधियों ने दो महाद्वीपों की एकता के संवर्धन के विचार को आगे रखा।

यद्यपि 1955 से पहले एक तीसरे–विश्व के नेताओं की गुटनिरपेक्षता के परिप्रेक्ष्य में कुछ बैठकें हुई थीं, किंतु इतिहासकारों का मानना है कि बांडुंग एशियाई–अफ्रीकी सम्मेलन गुटनिरपेक्ष आंदोलन के निर्माण के लिए सबसे तत्कालीन घटना है। यह सम्मेलन 18–24 अप्रैल, 1955 को बांडुंग में आयोजित किया गया था। इसमें 29 देशों के राष्ट्राध्यक्षों और सरकारों की पहली पीढ़ी के नेताओं ने भाग लिया था और इसका लक्ष्य था समसामयिक विश्व के मुद्दों की पहचान करना और उनका आकलन करना और उनसे निपटने के लिए नीतियों का समन्वय करना। हालांकि, बांडुंग में इकट्ठा हुए एशियाई और अफ्रीकी नेताओं में अलग–अलग राजनैतिक और वैचारिक विचार या समाज के प्रति अलग–अलग दृष्टिकोण के लोग थे, किन्तु वे अपने राष्ट्र के निर्माण या

पुनर्निर्माण के लिए इच्छुक थे। इसके अलावा, वे सभी इस बात से सहमत थे कि हाल ही में प्राप्त राजनीतिक स्वतंत्रता आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन असंलग्नता है। इस प्रक्रिया में मिस्र के तत्कालीन राष्ट्राध्यक्ष और सरकार के प्रमुख गमाल अब्दुल नासिर, घाना के क्वामे नकरमाह, भारत के श्री जवाहरलाल नेहरू, इंडोनेशिया के अहमद सुकर्णो और यूगोस्लाविया के जोसिप ब्रोज टीटो (मार्शल टीटो) ने अहम भूमिका निभाई, जो बाद में इस आंदोलन के संस्थापक बन गए। एशियाई–अफ्रीकी सम्मेलन ने अंतरराष्ट्रीय शांति और स्थिरता की स्थापना के लिए अपने उद्देश्यों और पूर्ण प्रतिबद्धता की घोषणा की।

बांडुंग के छह साल बाद, गुट निरपेक्ष देशों के आंदोलन की स्थापना बेलग्रेड के पहले शिखर सम्मेलन में व्यापक भौगोलिक आधार पर की गई, जो 1–6 सितंबर, 1961 को आयोजित किया गया था। सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया था : अफगानिस्तान, अल्जीरिया, यमन, म्यांमार, कंबोडिया, श्रीलंका, कांगो, क्यूबा, साइप्रस, मिस्र, इथियोपिया, घाना, गिनी, भारत, इंडोनेशिया, इराक, लेबनान, माली, मोरक्को, नेपाल, सऊदी अरब, सोमालिया, सूडान, सीरिया, ट्यूनीशिया, यूगोस्लाविया। 2018 तक इसमें 120 सदस्य देश, 17 पर्यवेक्षक देश और 10 पर्यवेक्षक संगठन शामिल है।

1960 और 1970 के दशक में एक के बाद एक शिखर सम्मेलन के रूप में, असंलग्नता की नीति "गुट–निरपेक्ष देशों के आंदोलन" में बदल गयी, जिसमें लगभग सभी एशियाई और अफ्रीकी देश शामिल थे। यह विकासशील दुनिया के आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की और अपने सम्मान के लिए संघर्ष करने के लिए समन्वय का एक मंच बन रहा था। इसके सम्मेलनों में आर्थिक और सामाजिक मुद्दों के साथ–साथ सख्ती से वैश्विक समस्याओं और मुद्दों पर एवं राजनीतिक मामलों पर चिंता व्यक्त की गयी है।

3.3.1 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता की नीति का आधार

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, विश्व राजनीति में दो शक्ति गुट संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के नेतृत्व में उभर रहे थे और इन गुटों के बीच की शत्रुता चरम पर थी जिसे विश्व इतिहास में शीत युद्ध के नाम से जाना गया। शीत युद्ध की राजनीति अंतरराष्ट्रीय संबंधों में एक कड़वे अनुभव के रूप में सामने आई। दोनों ही गुट या महाशक्तियां विश्व के अन्य देशों को अपने पक्ष में शामिल करने की होड़ में लगे हुए थे। इसके लिए वे छोटे, निर्बल और नवोदित राष्ट्रों को राजनीतिक संरक्षण तथा आर्थिक और सैनिक प्रलोभनों का सहारा ले रही थी। जिससे छोटे और निर्बल राष्ट्र शीत युद्ध और द्विध्रुवीय व्यवस्था में अपने हितों को सुरक्षित करने के लिए महाशक्तियों के गुटों का भाग बनना स्वीकार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए और युद्ध से बचने के लिए कई राष्ट्र एक तीसरा रास्ता चुनते हैं, जिसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता के नाम से जाना जाता है। इनमें से ज्यादातर देश एशिया और अफ्रीका के थे और ये नव स्वतंत्र राष्ट्र भी थे।

असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता दो शक्ति गुटों के एक तीसरे विकल्प के रूप में अंतरराष्ट्रीय मंच पर उभरा। यह विकासशील और तीसरी दुनिया के देशों के लिए अंतरराष्ट्रीय घटना थी। कुछ विकासशील और तीसरी दुनिया के नवोदित राष्ट्रों ने दोनों

महाशक्तियों को शीत युद्ध की राजनीति में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। भारतीय प्रधानमंत्री नेहरू शुरू से ही असंलग्नता की नीति के सर्वोपरि नेताओं में से एक थे। भारत में ब्रिटिश शासन के अंत के बाद, भारत ने शीत युद्ध के समय में किसी भी ब्लॉक में शामिल होने से इनकार कर दिया। नेहरू भारत के राष्ट्रीय हितों के कारण दो गुटों की राजनीति में प्रवेश नहीं करना चाहते थे। उन्होंने सोचा था कि यदि भारत किसी भी गुट का हिस्सा बनता है तो भारतीय स्वतंत्रता कम हो सकती है अतः उन्होंने असंलग्नता की नीति को अपनाने का फैसला किया। उन्होंने असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता को नव–स्वतंत्र देशों की सामूहिक आवाज के मंच के रूप में तैयार करने के लिए विश्व के अन्य राजनेताओं से बातचीत का प्रयास किया। इसमें उन्हें यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो और इजिप्ट के अब्दुल नासिर और इंडोनेशिया के सुकर्णो का सहयोग प्राप्त हुआ। इन नेताओं ने मिलकर असंलग्नता की नीति को एक व्यावहारिक रूप देते हुए आंदोलन में परिवर्तित किया जिससे असंलग्नता की इस विचारधारा ने पूरे विश्व को प्रभावित करने का कार्य किया।

3.3.2 असंलग्नता या गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका

असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता अंतरराष्ट्रीय राजनीति में तृतीय विश्व के विकासशील राष्ट्रों का एक संगठन है, जिसकी स्थापना औपनिवेशिक प्रणाली के पतन और अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका और दुनिया के अन्य क्षेत्रों के लोगों के स्वतंत्रता संघर्ष और शीत युद्ध के दौरान हुई थी जिसने धीरे–धीरे अंतराष्ट्रीय स्तर पर एक आंदोलन का रूप ले लिया। आंदोलन के शुरुआती दिनों के दौरान, इसने उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके कारण कई देशों और राष्ट्रों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और नए संप्रभु राज्यों की स्थापना हुई। अपने पूरे इतिहास में गुट–निरपेक्ष देशों के आंदोलन ने विश्व शांति और सुरक्षा के संरक्षण और संवर्धन में एक मौलिक भूमिका निभाई है। नेहरू जैसे नेताओं ने शुरू से ही जोर देकर कहा कि स्वतंत्रता के लिए भारतीय लोगों का संघर्ष साम्राज्यवाद के खिलाफ विश्वव्यापी संघर्ष का हिस्सा था। इसलिए स्वतंत्रता के बाद के युग में उन्होंने इस संघर्ष को एक स्वतंत्र अंतरराष्ट्रीय आंदोलन में बदलने और विश्व शांति और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए प्रयास करते हुए, नए स्वतंत्र राष्ट्रों की एकता को मजबूत किया।

इस प्रकार असंलग्नता अनिवार्य रूप से साम्राज्यवाद का विरोध करती है और दुनिया में उत्पीड़न, नव–उपनिवेशवाद, नस्लवाद, सैन्य गठबंधन और हथियारों की दौड़ के खिलाफ एक स्वतंत्र अंतरराष्ट्रीय आंदोलन के रूप में सामने आती है। इसने विश्व शांति के साथ अंतरराष्ट्रीय तनाव को कम करने और देशों के बीच शांतिपूर्ण तरीकों से सभी विवादों के निपटारे पर बातचीत करने का प्रयास किया है। जैसा कि हम जानते हैं की गुटनिरपेक्ष मंच की भूमिका शीत युद्धों के दौरान दुनिया के लिए बेहद महत्वपूर्ण रही है। शुरुआत से ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने विश्व युद्ध को रोकने और महाशक्तियों के बीच सशस्त्र तनाव को कम करने की कोशिश की। इस प्रक्रिया में संयुक्त राष्ट्र संघ में भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका प्रमुख रही है और इसका प्रभाव विश्व संगठन में अधिक से अधिक बढ़ता गया है। यह दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ अपने प्रतिबंधों, फिलीस्तीनी लोगों के आत्मनिर्णय अधिकारों की मान्यता से स्पष्ट है। संयुक्त राष्ट्र के

बाहर भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में तनाव को कम करने के लिए प्रयास किया है।

वर्ष 1973 में अल्जीयर्स सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में आर्थिक मुद्दों को प्राथमिकता प्रदान की गयी क्योंकि विश्व के कुछ देशों को ऐसा महसूस हुआ की आर्थिक व्यवस्था पर विकसित देशों का अधिपत्य है जिसका प्रयोग वो अपने हित की पूर्ति के लिए कर रहे हैं जिसके लिए गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने नयी अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रस्ताव रखा जिसमें उत्तर दक्षिण और दक्षिण सहयोग की बात की गयी। गुटनिरपेक्ष देशों ने सभी राष्ट्रों के मध्य समान सूचना तथा संचार को बेहतर करने के लिए नयी अंतरराष्ट्रीय सूचना व्यवस्था की मांग की। पंद्रहवें सम्मेलन में वैश्वीकरण को सर्वसमावेशी बनाने पर बल दिया ताकि विकासशील देशों के हितों पर भी ध्यान दिया जा सके।

असंलग्नता का सार एक स्वतंत्र निर्णय या विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों में कार्रवाई की स्वतंत्रता से है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन को एक अलग अंतरराष्ट्रीय पहचान बने तीन दशक से अधिक समय बीत चुका है, इसे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नए स्वतंत्र राज्यों की विदेश नीति द्वारा विकसित और आकार दिया गया है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन संयुक्त राष्ट्र के भीतर गुटनिरपेक्षता की भूमिका को मजबूत करके विश्व शांति और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की खोज में लगा रहा है, ताकि यह सभी प्रकार के आक्रामक कार्यों के खिलाफ एक और अधिक प्रभावी बाधा बन सके। अंतरराष्ट्रीय संबंधों के लोकतंत्रीकरण की दिशा में एक सार्वभौमिक आंदोलन के रूप में, यह अपने छोटे और मध्यम देशों को अपनी आकांक्षाओं का एहसास कराने में सफल रहा है। इसने शांति के लिए और दुनिया के देशों की विभिन्न समस्याओं के निपटारे के लिए खुद को एक सामान्य आंदोलन में बदलकर एक नया आयाम ग्रहण किया है। गुट निरपेक्ष आंदोलन उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और नस्लीयतावाद को समाप्त करने में सफल रहा है और आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय पूर्ण विश्व की स्थापना हेतु निरंतर संकल्पबद्ध है।

3.3.3 असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता का महत्व

अपने लगभग 60 वर्षों के अस्तित्व के दौरान, गुट–निरपेक्ष देशों के आंदोलन ने राज्यों और मुक्ति आंदोलनों की बढ़ती संख्या को एकजुट किया है। इन देशों ने वैचारिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता के बावजूद, अपने संस्थापक सिद्धांतों और प्राथमिक उद्देश्यों को स्वीकार किया है और उन्हें महसूस करने के लिए अपनी तत्परता दिखाई। ऐतिहासिक रूप से, गुट–निरपेक्ष देशों ने अपने मतभेदों को दूर करने की क्षमता दिखाई है और कार्रवाई के लिए एक साझा आधार पाया है जो आपसी सहयोग और उनके साझा मूल्यों को बनाए रखने की ओर जाता है। उन्होंने वैश्विक खतरों से निपटने में सदस्य देशों के बीच प्रयासों के समन्वय में आंदोलन के लिए सक्रिय रूप से एक अग्रणी भूमिका को बढ़ावा देने की आवश्यकता पर बल दिया। इस आंदोलन ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक मजबूत मोर्चा बनाने में कामयाबी हासिल की है, जिसमें संयुक्त राष्ट्र के शीर्ष पर तीसरी दुनिया के देशों का प्रतिनिधित्व होता है।

टिप्पणी

एक अंतरराष्ट्रीय मंच के रूप में गुटनिरपेक्ष आंदोलन मानव अधिकारों के सबसे प्रबल उत्थानकर्ताओं में से एक है, जिसमें लोगों के आत्मनिर्णय का अधिकार भी शामिल है। विश्व के नए विचारधारा वाले राष्ट्र जो इस आंदोलन में सम्मिलित हो गए हैं, वे स्वयं के राष्ट्रीय हितों को निर्धारित करने में सक्षम हैं और विश्व शक्तियों के शोषण के प्रयास का विरोध कर रहे हैं। यह सभी विकासशील देशों के लिए आर्थिक और तकनीकी क्षेत्रों में आपसी सहयोग के लिए एक आधार भी प्रदान करता है।

प्रारंभिक वर्षों में, अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए इसकी चिंता ने राजनीति को प्रभावित किया, जिससे की विकास के लिए उनके अन्य प्रयासों को वास्तव में अनदेखा कर दिया गया था। गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने हमेशा निशस्त्रीकरण और परमाणु विस्तार का विरोध किया। हम हाल के समय में इसकी भूमिका को नजरअंदाज नहीं कर सकते। ये संयुक्त राष्ट्र के लगभग दो तिहाई सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता है और इसमें विश्व की 55 प्रतिशत आबादी शामिल है। असंलग्नता विकासशील दुनिया के लिए बातचीत के एक मंच का निर्माण करता है और इसने इन देशों के लिए बहुत कुछ किया है। ये देश अपनी आपसी समस्या पर चर्चा करते हैं और इन समस्याओं को हल करने का एक तरीका खोजते हैं।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन उन लाखों मनुष्यों की आशाओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं को दर्शाता है जिन्हें आत्मनिर्णय और स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित किया गया है। वे उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, नव–उपनिवेशवाद और नस्लीयवाद से पीड़ित थे। उन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी खुद को औपनिवेशिक शासन, विदेशी वर्चस्व, अत्याचार, अपमान, गरीबी और अज्ञान से मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष किया है। इस आंदोलन ने अपने संघर्ष को जारी रखने की प्रतिज्ञा को नवीनीकृत किया जब तक कि वे एक विश्व प्राप्त नहीं करते, न्याय और स्वतंत्रता के आधार पर और सभी ताकतों के खिलाफ शांति, स्वतंत्रता, समानता और सहयोग से संचालित अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित की। गुटनिरपेक्ष देश अलगाववादी नीतियों का पालन नहीं करते रहे हैं, लेकिन वे प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संघर्षों में सक्रिय भूमिका निभाते रहे हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध के अंत और उसके बाद की घटनाओं के कारण कुछ आलोचकों का यह तर्क है कि बदलते विश्व परिदृश्य में गुटनिरपेक्ष आंदोलन प्रासंगिक नहीं है। लेकिन शीत युद्ध की समाप्ति का मतलब यह नहीं है कि विश्व शक्ति वर्चस्व का अंत हो गया है। असंलग्नता वर्तमान संदर्भ में बहुत प्रासंगिक है क्योंकि तीसरी दुनिया के देश आर्थिक से लेकर राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी तरह के मुद्दों पर वर्चस्व और शोषण का शिकार हो रहे हैं।

गुटनिरपेक्षता के समक्ष वर्तमान चुनौतियों में अंतरराष्ट्रीय कानून के सिद्धांतों की रक्षा करना, सामूहिक विनाश के हथियारों को खत्म करना, आतंकवाद का मुकाबला करना, मानव अधिकारों का बचाव करना, संयुक्त राष्ट्र को अपने सभी सदस्य राज्यों की जरूरतों को पूरा करने के लिए और अधिक प्रभावी बनाने की दिशा में काम करना शामिल है। अंतरराष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और स्थिरता, साथ ही अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली में न्याय का एहसास ये लक्ष्य अभी भी कायम हैं।

आज गुटनिरपेक्ष आंदोलन विशेष रूप से विश्व समुदाय और तृतीय विश्व के देशों के लिए आवश्यक है। तृतीय विश्व के देशों के बीच नव–उपनिवेशवाद और आतंकवाद

को समाप्त करने के लिए क्षेत्रीय समस्याओं को हल करने के लिए, यह नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभा सकता है। उत्तर–दक्षिण संवाद का पुनरुद्धार, सार्थक और प्रखर दक्षिण–दक्षिण सहयोग, पर्यावरण का संरक्षण, पूर्ण निशस्त्रीकरण, गरीबी, भूख, कुपोषण का उन्मूलन भविष्य में इस आंदोलन का बड़ा हिस्सा बन जाएगा। यह संयुक्त राष्ट्र के प्रभावी कामकाज में मदद कर सकता है, जिसे दुनिया की बहुत जरूरत है। इसलिए, गुटनिरपेक्ष आंदोलन पहले की तुलना में आज अधिक प्रासंगिक है। संयुक्त राष्ट्र महासभा के अध्यक्ष एच.इ. तिजानी मुहम्मद बंदे ने महासभा के 74वें सत्र में कहा था कि "गुटनिरपेक्ष आंदोलन को तर्क और संयम की आवाज बने रहना चाहिए, और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के ढांचे के भीतर, शांति, स्थिरता, मानव प्रगति और न्याय के लिए काम करने में कभी असफल नहीं होना चाहिए, अगर यह मुश्किल लगता है तो भी"।

निष्कर्ष में, गुटनिरपेक्ष आंदोलन, अभी तक जिन लक्ष्यों का सामना नहीं किया है और कई नई चुनौतियां जो उत्पन्न हो रही हैं, उन मौजूदा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के हितों और प्राथमिकताओं की रक्षा और सदस्य राज्यों और मानव जाति के लिए शांति और सुरक्षा की उपलब्धि के लिए एक प्रमुख और अग्रणी भूमिका निभा सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. बांडुंग सम्मेलन, बांडुंग में कब आयोजित किया गया था?

   (क) 10–16 अप्रैल, 1955 (ख) 14–18 अप्रैल, 1955

   (ग) 18–22 अप्रैल, 1955 (घ) 18–25 अप्रैल, 1955

4. किस सम्मेलन में वैश्वीकरण को सर्वसमावेशी बनाने पर बल दिया गया?

   (क) ग्यारहवें सम्मेलन (ख) तेरहवें सम्मेलन

   (ग) पंद्रहवें सम्मेलन (घ) सत्रहवें सम्मेलन

3.4 शीत–युद्ध

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध जितना एक शक्ति संघर्ष था उतना ही एक वैचारिक युद्ध भी था। यद्यपि शीत युद्ध का प्रारम्भ 1945 में द्विध्रुवीय व्यवस्था के उदय के साथ हुआ, किंतु इसकी उत्पत्ति का पता नवंबर 1917 की रूसी क्रांति से ही चलता है। इसको सीधे शब्दों में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच आपसी शत्रुता, अविश्वास और प्रतिद्वंद्विता की स्थिति के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रतियोगिता ने जल्द ही दुनिया भर में पश्चिमी पूंजीवादी और उसके सहयोगियों को, दुनिया भर में साम्यवादी नियंत्रित पूर्व और उसके सहयोगियों के खिलाफ खड़ा कर दिया। शीत युद्ध की "लड़ाई" का एक बड़ा हिस्सा प्रतिस्पर्धी राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के बीच था।

पश्चिमी पूंजीवादी आमतौर पर लोकप्रिय रूप से चुनी गई, बहुपक्षीय सरकारों का प्रतिनिधित्व करता था जो व्यक्तिगत अधिकारों और एक मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था का

समर्थन करता था जिसमें सरकार का नियंत्रण सीमित था। इसके द्वारा व्यक्तिगत पहल, व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों और निजी संपत्ति पर जोर दिया गया था। जबकि साम्यवादी ने व्यापक रूप में पूंजीवाद से बिलकुल भिन्न सरकारी और आर्थिक प्रणालियों की वकालत की। लगभग सभी साम्यवादी शासन एक ही राजनीतिक दल द्वारा नियंत्रित किए जाते थे, जो व्यक्तिगत अधिकारों और राजनीतिक भागीदारी पर सख्त नियंत्रण रखता था। साम्यवादी या कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्थाओं को केंद्र सरकार द्वारा नियंत्रित किया गया था और अधिकांश निजी संपत्ति पर रोक थी। साम्यवादी व्यक्तिगत पहल के बजाय, जनसंख्या के बीच सामूहिक सहयोग पर जोर देते थे। इस प्रकार, शीत युद्ध ने दो बिलकुल अलग–अलग विचारधाराओं का नेतृत्व किया।

शीत युद्ध राजनीतिक, आर्थिक और प्रचार के मोर्चों पर लड़ा गया था। इसमें दो परमाणु महाशक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच कोई सीधा सैन्य टकराव नहीं था। हालांकि, विश्व के अन्य क्षेत्रों में कई युद्ध हुए और लगभग इन सभी संघर्षों में, दोनों महाशक्तियों और उनके सहयोगियों ने राजनयिक रूप से समर्थन किया और दावेदारों को हथियारबंद भी किया। सोवियत संघ के पतन के साथ शीत युद्ध समाप्त हो गया। हथियारों ने इस शीत युद्ध में सोवियत संघ को पराजित ही नहीं किया, बल्कि इसकी आर्थिक प्रणाली की अक्षमता और राजनीतिक स्वतंत्रता की कमी इसके विघटन का कारण बनी।

शीत युद्ध का अर्थ

शीत युद्ध, खुले तौर पर किंतु प्रतिबंधित प्रतिद्वंद्विता है जो संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ और उनके संबंधित सहयोगियों के बीच द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकसित हुई। शीत युद्ध राजनीतिक, आर्थिक और प्रचार के मोर्चों पर जारी था और केवल हथियारों की होड़ तक सीमित था। इस शब्द का पहली बार प्रयोग अंग्रेजी लेखक जॉर्ज ऑरवेल ने 1945 में प्रकाशित एक लेख में किया था, जिसमें उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि "दो या तीन विशालकाय राज्यों के बीच एक परमाणु गतिरोध होगा, प्रत्येक के पास एक ऐसा हथियार होगा जिसके द्वारा लाखों लोग कुछ सेकंड में मिटा दिये सकते हैं।" इसका औपचारिक रूप से इस्तेमाल पहली बार संयुक्त राज्य अमेरिका में अमेरिकी वित्तीय प्रबंधक और राष्ट्रपति के सलाहकार बर्नार्ड बारूच ने 1947 में कोलंबिया के स्टेट हाउस, साउथ कैरोलिना में एक भाषण में किया था।

शीत–युद्ध, वास्तविक 'युद्ध' न होते हुए भी युद्ध जैसी परिस्थितियों को बनाये रखने की कला है, जिसमें राष्ट्र–राज्य प्रत्येक विषय पर विश्व–शांति के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने तुच्छ स्वार्थों और हितों को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं। यह आपसी संबंध की ऐसी स्थिति थी जिसमें अमेरिका और सोवियत संघ दोनों पक्ष शांतिपूर्ण राजनयिक संबंध रखते हुए भी परस्पर शत्रुता और प्रतिद्वंदिता का भाव रखते थे तथा शस्त्र–युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक–दूसरे की शक्ति और स्थिति को निरंतर कमजोर करने का प्रयास करते हैं। शीत युद्ध को ऐसा युद्ध भी कहा जाता, जिसका रणक्षेत्र मनुष्य का मस्तिष्क था अर्थात यह मनुष्य के मन और विचारों में लड़ा जाने वाला युद्ध था ।

इसे स्नायु युद्ध (War of nerves) भी कहा जाता हैं जिसमें रणक्षेत्र का सक्रिय युद्ध तो नहीं होता किंतु विरोधी महाशक्तियों के सभी आर्थिक, कूटनीतिक और राजनीतिक संबंधों में शत्रुतापूर्ण तनाव की स्थिति विद्यमान थी। वास्तव में, शीत–युद्ध युद्ध के भयावह दुष्परिणामों से बचते हुए युद्ध द्वारा प्राप्त होने वाले सभी लक्ष्यों की पूर्ति का एक नवीनतम अस्त्र था।

विभिन्न विद्वानों ने शीत युद्ध को अपने शब्दों में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

- जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, 'शीत–युद्ध प्राचीन शक्ति– संतुलन की अवधारणा का नया रूप है। यह दो विचारधाराओं का संघर्ष न होकर दो विशालकाय शक्तियों का परस्पर संघर्ष है। नेहरू ने कहा कि यह 'निलंबित मृत्युदंड के वातावरण' के समान तनावपूर्ण था, जो यह गरम युद्ध से भी अधिक भयानक युद्ध था।
- के. पी. एस. मेनन के अनुसाररू 'शीत–युद्ध जैसा कि विश्व ने अनुभव किया दो विचारधाराओं, पूंजीवाद और साम्यवाद, दो प्रणालियों, बुर्जुआ लोकतंत्र और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही, दो गुटों, नाटो और वारसा पैक्ट, दो राज्यों, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ और जब वह अपनी पराकाष्ठा पर था तो दो व्यक्तियों, जोसफ स्टालिन और जॉन फॉस्टर डलेस के मध्य उग्र संघर्ष था, जिसने पूरे विश्व को प्रभावित किया।
- लुई हाले ने अपनी पुस्तक 'द कोल्ड वॉर ऐज हिस्ट्री' (1967) में लिखा है, 'परमाणु युग में शीत–युद्ध एक ऐसी तनावपूर्ण स्थिति है, जो शस्त्र–युद्ध से बिलकुल भिन्न है, परंतु उससे भी ज्यादा भयानक है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसने अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के बजाय उन्हें और जटिल कर दिया। दुनिया के सभी देश और समस्याएं भले वह वियतनाम या कोरिया हो या कश्मीर, अथवा अरब–इजरायल संघर्ष, सभी का प्रयोग शीत–युद्ध में मोहरों की तरह किया गया।'

इस प्रकार, शीत युद्ध अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अमेरिका और सोवियत संघ के शत्रुतापूर्ण संबंधों की अभिव्यक्ति है, जिसे वास्तविक युद्ध में परिवर्तित किये बिना वैचारिक स्तर, कूटनीतिक जोड़–तोड़, जासूसी, सैन्य प्रतिस्पर्धा, गलत प्रचार और मनोवैज्ञानिक युद्ध के माध्यम से लड़ा गया।

शीत युद्ध के कारण

शीत युद्ध के कारणों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

- शीत युद्ध का प्रमुख कारण दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का टकराव था। सोवियत रूस विश्व में साम्यवाद का प्रसार कर रहा था, संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत रूस की साम्यवादी विचारधारा को बर्दाश्त नहीं कर सकता था, उस समय अमेरिका ने पूंजीवाद का प्रचार किया। इसने अंततः शीत युद्ध को गति दी।

टिप्पणी

- विश्व युद्ध और शांति के दौरान सोवियत और अमेरिकियों के बीच गहरा अविश्वास था। द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में और इसके समाप्ति के कुछ वर्षों के दौरान हैरी ट्रूमैन अमेरिका के राष्ट्रपति थे और उन्होंने विशेष रूप से स्टालिन को नापसंद किया और अविश्वास किया। भले ही वे तकनीकी रूप से द्वितीय विश्व –युद्ध में सहयोगी थे, परंतु दोनों को एक–दूसरे पर शक था।
- 1945 में पॉट्सडैम सम्मेलन बर्लिन में अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर जैसे पराजित जर्मनी का प्रशासन, पोलैंड की सीमा का सीमांकन, ऑस्ट्रिया का कब्जा, और पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ की भूमिका इत्यादि विषयों पर चर्चा के लिए आयोजित किया गया था। सोवियत संघ चाहता था कि पोलैंड के कुछ हिस्से (सोवियत संघ की सीमा) को एक बफर क्षेत्र के रूप में बनाए रखा जाए। हालांकि, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन इस मांग से सहमत नहीं थे। इसके अलावा, संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ को परमाणु बम की सटीक प्रकृति के बारे में सूचित नहीं किया, जो जापान पर गिरा दिया गया था। इसने पश्चिमी देशों के इरादों के बारे में सोवियत नेतृत्व में संदेह पैदा किया ।
- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ विश्व व्यवस्था में दो महाशक्तियां बन कर उभरी। इनके मध्य हितों का संघर्ष तनाव का प्रमुख केंद्रबिंदु था। अंतरराष्ट्रीय पदानुक्रम के शिखर पर दोनों की सुदृढ़ स्थिति एक दूसरे पर संदेह और अविश्वास का मुख्य कारण थी।
- 1944 में पूर्वी यूरोप के विभाजन पर ब्रिटेन तथा सोवियत संघ में बाल्कान समझौते के तहत सहमति हुई थी। इसके अनुसार रूमानिया और बुल्गारिया पर सोवियत संघ का एवं ग्रीस पर ब्रिटेन का प्रभुत्व स्वीकार करने पर सहमति हुई थी। यूगोस्लाविया और हंगरी पर दोनों का बराबर प्रभुत्व मानने की बात कही गई थी। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ ने ब्रिटेन के प्रभुत्व की उपेक्षा करके अपने साम्यवादी विस्तार को तीव्र कर दिया और उन देशों में साम्यवादी सरकारों की स्थापना कर दी। इससे पश्चिमी राष्ट्रों ने निंदा की, जिससे सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों में दूरियां बढ़ने लगी और शीत युद्ध का वातावरण तैयार हो गया।
- दो महाशक्तियों के बीच अस्त्र–शस्त्रों की दौड़ ने एक और कारण दिया शीत युद्ध के लिए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, सोवियत रूस ने अपनी सैन्य ताकत बढ़ा दी थी, जो पश्चिमी देशों के लिए खतरा थी। इसलिए अमेरिका ने भी एटम बम, हाइड्रोजन बम और अन्य घातक हथियारों का निर्माण किया। अन्य यूरोपीय देशों ने भी इस दौड़ में भाग लिया। पूरी दुनिया दो शक्ति गुटों में विभाजित हो गयी और शीत युद्ध का मार्ग प्रशस्त हुआ।

शीत युद्ध का विकास

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध द्वितीय विश्व के समाप्ति के पश्चात प्रारम्भ हो कर, 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही समाप्त हुआ। इतने लंबे काल तक चले

इस युद्ध के विकास क्रम को हम विभिन्न चरणों में विभाजित करके अध्ययन करते है। ये विकास के चरण निम्नवर्णित है –

(अ) प्रथम चरण, 1945–1955

- यूरोपीय देशों में सोवियत संघ की लाल सेना द्वारा साम्यवादी व्यवस्था के विस्तार ने पश्चिमी नेताओं को चिंतित कर दिया। चर्चिल ने 1946 में फुल्टन में घोषणा की, कि एक आयरन कर्टेन ने कम्युनिस्ट यूरोप को स्वतंत्र यूरोप से अलग कर दिया है।
- सोवियत रूस के आधिपत्य को कम करने के लिए, अमेरिका ने 12 मार्च 1947 को डेविड ट्रूमैन ने ट्रूमैन सिद्धांत का अनुसरण करते हुए ग्रीस और तुर्की के लिए वित्तीय सहायता का अनुमोदन किया ।

ट्रूमैन सिद्धांत

12 मार्च 1947 को, अमेरिकी कांग्रेस के लिए एक भाषण में, राष्ट्रपति ने अपने सिद्धांत को प्रस्तुत किया, जिसका उद्देश्य सोवियत विस्तार से खतरे वाले देशों को वित्तीय और सैन्य सहायता प्रदान करना था। स्पष्ट रूप से कम्युनिज़्म के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से, ट्रूमैन सिद्धांत ने संयुक्त राज्य अमेरिका को सोवियत आक्रमण के सामने एक स्वतंत्र दुनिया के रक्षक के रूप में तैनात किया। ग्रीस और तुर्की को लगभग 400 मिलियन डॉलर का सहायता पैकेज दिया गया था। इस नए सिद्धांत ने शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका की सक्रियता के लिए एक वैध आधार प्रदान किया।

- 1947 में, अमेरिकी विदेश मंत्री जॉर्ज मार्शल ने 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' का अनावरण किया, जिसके अनुसार पश्चिमी यूरोपीय देशों को 12 अरब डॉलर की वित्तीय मदद की पेशकश की गयी। यह एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धांत का विस्तार था। इस योजना का लक्ष्य यूरोप में साम्यवाद के प्रभाव को रोकना था।
- सोवियत संघ ने 1948 में बर्लिन की नाकेबंदी करके शीत युद्ध को और अधिक भड़का दिया। अमेरिका ने इसका सख्त विरोध किया और अपना सैनिक वर्चस्व बढ़ाने में जुट गया।
- 1949 में, जर्मनी का विभाजन एक महत्वपूर्ण घटना थी। पश्चिमी क्षेत्र में जर्मन संघीय गणराज्य और सोवियत क्षेत्र में जर्मन लोकतांत्रिक गणराज्य का जन्म हुआ। इसके बाद, पूरे शीत युद्ध में, दो जर्मनी, एक लोकतांत्रिक और पूंजीवादी, दूसरा सोवियत–शैली कम्युनिस्ट तानाशाही अस्तित्व में रही।
- उसी वर्ष शीत युद्ध का प्रसार एशिया में होने लगा। माओत्से तुंग की साम्यवादी ताकतों की जीत ने अक्टूबर 1949 में चीनी गणराज्य की घोषणा की। दुनिया का सबसे अधिक आबादी वाला देश कम्युनिस्ट ब्लॉक में शामिल हो गया।
- अमेरिका ने अपने वैश्विक प्रभाव को स्थापित करने के लिए कई उपाय किए। सबसे पहले, इसने पश्चिमी यूरोप के साथ अपने संबंधों को मजबूत किया और मित्र राष्ट्रों के सहयोग से नाटो (उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन) जैसे सैन्य गठबंधन का 1949 में निर्माण किया। इसी प्रकार 1951 में ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अमेरिका ने मिलकर एक और सैन्य गुट 'इंजंस' बनाया।

- 1950 में कोरिया संकट से भी अमेरिका और सोवियत संघ में शीत युद्ध बढ़ गया। उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। कोरियाई युद्ध (1950–1953) ने कोरिया को दो विरोधी देशों में विभाजित किया। उत्तर कोरिया पर सोवियत संघ का वर्चस्व था और दक्षिण कोरिया पर अमरीका का प्रभुत्व था।
- कोरियाई युद्ध ने स्पष्ट रूप से शीत युद्ध के वैश्विक आयाम को दर्शाया। इसके बाद, एशिया शीत युद्ध के लिए मुख्य मंच बन गया। जर्मनी के विभाजन और कोरियाई युद्ध ने दुनिया को एक नई वास्तविकता दिखाई जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका और यूएसएसआर के नेतृत्व में दो अलग–अलग गुटों में विश्व को विभाजित कर दिया। इसके बाद, प्रत्येक गुट ने अपने प्रतिद्वंद्वी गुट के खिलाफ अपने आतंरिक क्षेत्र का बचाव किया।
- 1953 में सोवियत संघ ने प्रथम आणविक परीक्षण किया, संयुक्त राज्य अमेरिका ने रूस के प्रभाव को कम करने के लिए 1954 में SEATO का गठन किया। अमेरिकी शक्ति को कम करने के लिए, रूस ने 1955 में WARSAW PACT पर हस्ताक्षर किए।

(ब) द्वितीय चरण, 1955–1962

- 1953 में स्टालिन की मृत्यु और एक नए सोवियत नेता क्रुश्चेव की शक्ति में वृद्धि, ने शीत युद्ध में एक नई काल की शुरुआत की। अत्यधिक तनाव की अवधि के बाद, वाशिंगटन और मॉस्को के बीच संबंधों में एक नये और अधिक कूटनीतिक वातावरण का विकास हुआ, जिसके कारण 'शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व' की बात हुई।
- मुख्य कारक जिसने दोनों महाशक्तियों के बीच संबंधों में पिघलाव का नेतृत्व किया, उसे 'आतंक का संतुलन' कहा गया, अर्थात सोवियत संघ द्वारा एक परमाणु शक्ति केरूप में रूपांतरण के बाद बनी स्थिति। इससे एक निश्चितता थी कि महाशक्तियों के बीच युद्ध दोनों और विश्व के विनाश का कारण होगा।
- 1956 में स्वेज संकट को लेकर अमेरिका और रूस के बीच एक समझौता हुआ। अमेरिका अपने सहयोगियों की मदद करने के लिए सहमत नहीं हुआ।
- शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की नई अवधि के दौरान शीत युद्ध के दो सबसे गंभीर संकट थेरू बर्लिन की दीवार और क्यूबा मिसाइल संकट का निर्माण। 13 अगस्त, 1961 को, जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक की साम्यवादी सरकार ने पूर्वी और पश्चिमी बर्लिन के बीच एक कांटेदार तार और कंक्रीट की दीवार (बर्लिन की दीवार) का निर्माण शुरू किया। इसने मुख्य रूप से पूर्वी बर्लिन से पश्चिम बर्लिन तक बड़े पैमाने पर आव्रजन की जांच के उद्देश्य को पूरा किया। विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, पूर्व और पश्चिम बर्लिन के यात्रियों को सीमा पार की अनुमति मुश्किल से ही दी गई थी।
- 1962 में, क्यूबा के मिसाइल संकट ने शीत युद्ध में बहुत योगदान दिया। इस घटना ने अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी और रूसी राष्ट्रपति क्रुश्चेव के बीच बातचीत का माहौल बनाया। अमेरिका ने रूस को आश्वासन दिया कि वह क्यूबा पर हमला नहीं करेगा और रूस भी पीछे हट जाएगा।

(स) तृतीय चरण, 1962–1975

- 1962 के क्यूबा संकट के बाद शीत युद्ध में कुछ नरमी आई। दोनों महाशक्तियों के मध्य व्याप्त तनाव में कमी आयी और एक सौहार्दपूर्ण वातावरण विकसित होता दिखाई दिया। इससे दोनों देशों के मध्य व्यवस्थित बातचीत के सम्बन्धों के दौर की शुरुआत हुई। इस नरमी या तनाव में कमी को श्दितान्तश या श्तनावशैथिल्यश की संज्ञा दी जाती है।
- 1968 में NPT (परमाणु अप्रसार संधि) पर अमेरिका, सोवियत संघ और यूनाइटेड किंगडम द्वारा हस्ताक्षर किया गया और SALT I (स्ट्रैटेजिक आर्म्स लिमिटेशन) समझौते (1972) पर हस्ताक्षर किए गए, जिसने अंतरमहाद्वीपीय मिसाइलों की संख्या को सीमित कर दिया।
- दितान्त से अंतरराष्ट्रीय संबंधों में एक बदलाव देखने को मिला। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में भी वृद्धि हुई और परमाणु युद्ध के आतंक से राहत मिली।

(द) अंतिम चरण, 1975–1985

- इस चरण में शीत युद्ध में कुछ बदलाव देखे गए थे। इसीलिए इतिहासकार इस चरण को नव–शीत युद्ध कहते हैं। 1979 में, अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर और रूसी राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने SALT II पर हस्ताक्षर किए। लेकिन 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत संघ के अचानक हस्तक्षेप से शीत युद्ध को कम करने की संभावनाएं धूमिल हो गयी। वियतनाम (1975), अंगोला (1976), इथियोपिया (1972) और अफगानिस्तान (1979) के मुद्दों ने रूस को सफलता दिलाई जो अमेरिका के लिए असहनीय था।
- अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर के मानवाधिकार और मुक्त कूटनीति की रूस द्वारा आलोचना की गई थी। अमेरिकी सीनेट द्वारा SALT II की पुष्टि नहीं की गई थी।
- 1980 में अमेरिका ने मास्को में आयोजित ओलंपिक का बहिष्कार किया। 1983 में, रूस ने अमेरिका के साथ मिसाइल पर एक बात वापस ले ली। 1984 में रूस ने लॉस एंजिल्स में आयोजित ओलंपिक खेल का बहिष्कार किया।
- अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रेगन के स्टार वॉर ने रूस को नाराज कर दिया। इस तरह अमेरिका और रूस के बीच नव शीत युद्ध 1987 तक जारी रहा।
- उस समय कई पूर्वी यूरोपीय देशों ने खुद को लोकतांत्रिक घोषित किया और 1991 में सोवियत संघ के विघटन साथ वारसा पैक्ट भी भंग हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शीत युद्ध की स्थिति एक दिन के संघर्ष का परिणाम नहीं थी। यह कई वर्षों के वैचारिक और सैन्य संघर्ष का परिणाम थी, जिसके विश्व राजनीति पर दूरगामी परिणाम देखे गए।

3.4.1 शीत युद्ध की समाप्ति

1980 के दशक के समाप्ति में पूर्वी यूरोप में राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक परिवर्तनों ने यूरोप में भू–राजनीतिक स्थिति और मौजूदा संस्थानों और संरचनाओं को बदल दिया था । लोकतंत्र, स्वतंत्रता और मानवाधिकारों की रक्षा की आकांक्षाएं, जो लंबे समय से सोवियत गुट के सत्तावादी शासन द्वारा दबायी गयी थीं, को अधिक खुले तौर पर व्यक्त किया जाने लगा था, विशेष रूप से मिखाइल गोर्बाचेव और उनकी नीति में सोवियत संघ में शुरू किए गए सुधारों से धीरे–धीरे पश्चिम का द्वार खुल रहा था।

11 मार्च 1985 को, मिखाइल गोर्बाचेव, सोवियत संघ (CPSU) के कम्युनिस्ट पार्टी के केंद्रीय समिति द्वारा CPSU के महासचिव नियुक्त किए गए थे। गोर्बाचोव का पद ग्रहण करना सोवियत संघ के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थे जिसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक नए युग की शुरुआत की। एक समर्पित सुधारक, की तरह गोर्बाचोव ने सोवियत संघ के लिए ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका की नीतियों की शुरुआत की। शासन को उदार बनाने और पारदर्शिता लाने के लिए अर्थात अभिव्यक्ति और सूचना की एक निश्चित स्वतंत्रता के लिए ग्लासनोस्त और राजनितिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पेरेस्त्रोइका की नीति थी, जिसने सोवियत नागरिकों को सीमित बाजार के लिए प्रोत्साहन दिया। गोर्बाचेव को उम्मीद थी कि ये बदलाव सोवियत अर्थव्यवस्था को सुस्त करने के लिए पर्याप्त होंगे।

इस महत्वाकांक्षी नीति को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए, गोर्बाचोव को सोवियत संघ की अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं को सीमित करना पड़ा और देश के नैतिक और आर्थिक गिरावट को रोकने के लिए अपने सैन्य खर्च को कम करना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप परमाणु हथियारों से संबंधित अमेरिकियों और सोवियत संघ के बीच बातचीत शुरू हुई और यूरोपीय समुदाय के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित हुए। उसी समय, गोर्बाचेव ने अफगानिस्तान से और दुनिया के अन्य हिस्सों में सोवियत भागीदारी को समाप्त कर दिया।

हालांकि, पश्चिम के लिए लोकप्रिय गोर्बाचेव की नीतियां अपने देश में बहुत कम लोकप्रिय हुई, जहां उनके सुधारों केंद्रीय योजना प्रणाली के भंग होने का कारण बने क्योंकि कोई भी वास्तविक बाजार तंत्र लागू नहीं किया गया था। इससे उत्पादन में कमी और सामाजिक असंतोष पैदा हुआ, जिसके कारण हड़तालें हुईं। साथ ही मिखाइल गोर्बाचेव की सुधारवादी नीतियों ने सोवियत गुट के देशों में कम्युनिस्ट शासन के लिए विरोध आंदोलनों को हवा देने का भी कार्य किया। इन राष्ट्रों में प्रदर्शनों का दौर लगातार बढ़ता गया। गोर्बाचेव द्वारा सरकारों को उपायों को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया, इसके अलावा, उदारीकरण को भी। हालांकि, इन उपायों को पर्याप्त नहीं माना गया था। अनिवार्य रूप से मिखाइल गोर्बाचेव के सोवियत संघ में सुधारों और पश्चिम के प्रति उनकी सुलझी नीति से सोवियत संघ के देशों में और साम्यवादी शासन द्वारा लंबे समय से दबाए गए राष्ट्रों में स्वतंत्रता की उम्मीदें बढ़ गयी थी। सुधारवादी साम्यवादी शासन को बनाए रखना असंभव साबित हुआ। कुछ वर्ष के अंदर, साम्यवादी शासन का पतन हो गया और व्यक्तिगत राष्ट्रों ने स्वतंत्रता प्राप्त की। पूर्वी ब्लॉक की संरचनाएं वारसॉ संधि और कोमेकॉन के विघटन के साथ विघटित हो गईं और सोवियत संघ स्वतंत्र गणराज्य में बिखर गया।

9 नवंबर 1989 को बर्लिन की दीवार के गिरने से साम्यवादी सरकारों के पतन में तेजी आई। इसने पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों में साम्यवाद को खत्म कर लोकतंत्र की प्रक्रिया में तीव्रता ला दी। सोवियत साम्यवाद के पतन के कारण सोवियत संघ का विघटन हुआ, जो एक वैचारिक, राजनीतिक और आर्थिक संकट से घिरा हुआ था। इसने साम्यवाद के विखंडन के कारण और प्रभाव दोनों को खत्म कर दिया। पूर्वी ब्लॉक के भीतर साम्यवाद के पतन और सोवियत संघ के टूटने से शीत युद्ध का औपचरिक अंत हो गया। नए शासनों ने जल्द ही संक्रमण को सुविधाजनक बनाने के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता और अन्य सहायता के लिए पश्चिमी यूरोप के देशों की ओर रुख करने का इरादा जताया।

3.4.2 शीत युद्ध की समाप्ति के कारण

शीत युद्ध का अंत अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण विकास था जो किसी एक घटना का परिणाम नहीं था। इसके अंत के कई कारण थे जो निम्नलखित है–

- शीत युद्ध समाप्त होने के लिए सोवियत आर्थिक गिरावट को अक्सर एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में में देखा जाता है। सोवियत संघ की विदेश नीति शीत युद्ध के दौरान रक्षा की ओर उन्मुख थी। इसकी अर्थव्यवस्था में बुरी तरह से गिरावट आई, क्योंकि सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था की शक्ति इसके द्वारा निर्धारित की गई थी रक्षा पर भारी बजट के साथ अन्य देशों के अस्त्र–शस्त्र के निर्यात पर निर्भर थी। अन्य देशों को अस्त्र निर्यात में कमी आने से सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हुई। यह आर्थिक गिरावट विघटन और शीत युद्ध के अंत का कारण बानी।
- सोवियत अर्थव्यवस्था और राजनीति में सुधार के लिए, गोर्बाचेव ने ग्लासनोस्ट ('खुलेपन') और पेरेस्त्रोइका ('पुनर्गठन') की नीतियों को स्थापित किया । ग्लासनोस्त का उद्देश्य राजनीतिक परिदृश्य के उदारीकरण के लिए था। पेरेस्त्रोइका का उद्देश्य सरकार द्वारा संचालित उद्योगों के स्थान पर अर्ध–मुक्त बाजार नीतियों को प्रस्तुत करना था। इसने विभिन्न मंत्रालयों से अधिक स्वतंत्र कार्यों की अनुमति दी और कई बाजार सुधारों की शुरुआत की। साम्यवादी विचार में एक पुनर्जागरण को बढ़ावा देने के बजाय, इन कदमों ने पूरे सोवियत तंत्र की आलोचना के लिए बाढ़ को खोल दिया। राज्य ने मीडिया और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों का नियंत्रण खो दिया, और लोकतांत्रिक सुधार आंदोलनों ने पूरे सोवियत संघ में तीव्रता पकड़ ली। साथ ही, गिरती अर्थव्यवस्था, गरीबी, बेरोजगारी आदि के कारण जनता में असंतोष बढ़ रहा था, इससे सोवियत संघ के लोग पश्चिमी विचारधारा और जीवन के तरीके से आकर्षित हुए।
- हथियारों की दौड़ पर अत्यधिक खर्च तीसरा कारक है रीगन प्रशासन ने अभी भी जान बूझकर उन्हें इसमें धकेला। लेकिन ऐसा करने में, संयुक्त राज्य अमेरिका लगभग खुद को भी दिवालिया कर लिया। आर्थिक मंदी ने साम्यवाद के साथ–साथ पूंजीवाद को भी चुनौती दी। लेकिन अमेरिकी अर्थव्यवस्था सोवियत अर्थव्यवस्था से दोगुनी थी, और इसलिए कुछ हद तक समान रूप से बड़े रक्षा व्यय को बर्दाश्त कर सकती थी जबकि बाद में सोवियत संघ के लिए यह कठिन हो गया था।

- शीत युद्ध की समाप्ति के लिए एक कारण यह भी माना जाता है कि साम्यवादी विचारधारा ने अपनी प्रतिष्ठा खो दी थी। गोर्बाचोव के नेतृत्व वाले सोवियत नेतृत्व को इस बात का एहसास हुआ कि पूरा साम्यवाद की प्रणाली दोषपूर्ण है और पूंजीवाद की पश्चिमी विचारधारा के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती।
- सोवियत संघ के उपग्रह राज्यों में भी लोकतंत्र की विचारधारा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था जिससे धीरे –धीरे वह साम्यवादी सरकारों का पतन और लोकतांत्रिक प्रणाली की स्थापना होने लगी। लोकतंत्र के स्थापना के साथ ही सोवियत संघ के विघटन का मार्ग निश्चित हो गया। बर्लिन की दीवार का गिरना भी साम्यवाद के पतन और शीत युद्ध के अंत का प्रतीक था।

3.4.3 शीत युद्ध की समाप्ति का परिणाम

शीत युद्ध की समाप्ति अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। बर्लिन की दीवार का गिरना, जर्मनी का एकीकरण, और सोवियत संघ के विघटन के साथ ही वारसा पैक्ट का भंग होना, इत्यादि घटनाएं शीत युद्ध की समाप्ति का एलान थी। शीत युद्ध की समाप्ति ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही प्रकारों से प्रभावित किया। शीत युद्ध के अंत के साथ ही अमेरिका और सोवियत संघ की प्रतिद्वंदिता पर आधारित द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था का अंत हो गया। सोवियत संघ के विघटन के साथ ही अमेरिका के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए कोई और महाशक्ति नहीं रही, जिससे विश्व अमेरिका के नेतृत्व में एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था की ओर अग्रसर हुआ।

सोवियत संघ से स्वतंत्र हुए राष्ट्रों ने साम्यवाद के स्थान पर लोकतंत्र और पूंजीवाद की विचारधारा को अपनाया। यहां तक की रूस ने भी पूंजीवाद और लोकतंत्र के बहुत अंशों को अपना लिया, जिससे साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव विश्व में महत्वपूर्ण तरीके से कम हो गया। शीत युद्ध के अंत ने रूस की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह से प्रभावित किया था क्योंकि शीत युद्ध के खत्म होने के साथ ही रूस ने सैन्य खर्चों पर भारी कटौती की, जिससे सैन्य–उद्योगों का भारी नुकसान हुआ और लाखों लोग बेरोजगार हो गए। हालांकि 1995 के बाद रूस की अर्थव्यवस्था पटरी पर लौटती हुई नजर आई।

जहां शीत युद्ध की समाप्ति ने पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतंत्र और आर्थिक विकास के दौर की शुरुआत की, वही कुछ राष्ट्रों जैसे यूगोस्लाविया में सोवियत राज्य के नियंत्रण के समाप्त होने से नागरिक और जातीय संघर्ष उत्पन्न हो गए और पूर्व यूगोस्लाविया स्वतंत्र राज्यों में विघटित हो गया। अफगानिस्तान में भी राज्य व्यवस्था असफल सिद्ध हुई और कट्टरपंथी ताकतों सर उठाने लगी।

शीत युद्ध के अंत के बाद अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में और भी कई परिवर्तन दिखाई दिए। मास्ट्रिच की संधि के साथ ही यूरोप का एकीकरण हुआ और यूरोपीय यूनियन का जन्म हुआ। चीन ने औद्योगिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा विश्व में एक उभरती आर्थिक ताकत के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। इसके अतिरिक्त अन्य राष्ट्र भी आर्थिक और सैन्य शक्ति के रूप में उभर रहे हैं। शीत युद्ध की समाप्ति ने महाशक्तियों

की हथियारों की होड़ को कम कर दिया और निशस्त्रीकरण के मार्ग को प्रशस्त किया। शीत युद्ध की समाप्ति का परिणाम ही था कि खाड़ी संकट के समय सोवियत संघ और अमेरिका ने मिलकर सुरक्षा परिषद के प्रस्तावों का समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्र की भूमिका में भी वृद्धि हुई, इससे विश्व में शांति का आधार और मजबूत हुआ। शीत युद्ध के अंत ने वैचारिक और सुरक्षात्मक मुद्दों के स्थान पर आर्थिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक मुद्दों की भूमिका की ओर राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार शीत युद्ध की समाप्ति ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति को एक नए ढंग से निर्धारित करने का कार्य किया।

अपनी प्रगति जांचिए

5. शीत युद्ध का तृतीय चरण किसे माना जाता है?

   (क) 1945–1955 (ख) 1955–1962

   (ग) 1962–1975 (घ) 1975–1985

6. बर्लिन की दीवार के गिरने के कारण किस सन से साम्यवादी सरकारों के पतन में तेजी आई?

   (क) 1989 (ख) 1989

   (ग) 1989 (घ) 1990

3.5 उत्तर शीत युद्ध–कालीन मुद्दे

एक लंबे समय तक चले शीत –युद्ध के समाप्ति के पश्चात् एक नए युग का प्रारम्भ हुआ जिसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नवीन मुद्दों और व्यवस्था को जन्म दिया। नीचे हम इन शीतयुद्धोतर मुद्दों के बारे में चर्चा करेंगे।

- **एक–ध्रुवीय विश्व** : सोवियत संघ के विघटन और पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के अंत के साथ शीत युद्ध की समाप्ति होते होते अंतरराष्ट्रीय राजनीति के समीकरण में तेजी से परिवर्तन आया जिससे द्विध्रुवीय व्यवस्था का भी अंत हो गया। विश्व व्यवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। इसीलिए यह भी कहा गया कि शीत युद्ध के बाद का काल विश्व में अमेरिका के प्रभुत्व का काल था। खाड़ी युद्ध में अमेरिका की निर्णायक भूमिका ने उसके प्रभाव और शक्ति में अत्यधिक वृद्धि की। साम्यवादी विचारधारा के कमजोर पड़ने से अमेरिकी मूल्य जैसे उदारवाद और लोकतंत्र पूरे विश्व में प्रसारित हो रहे थे। सोवियत संघ के पतन के बाद अमेरिका एक ऐसी शक्ति के रूप में उभर रहा था, जिसके पास आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक तीनों प्रकार की शक्ति थी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि विश्व पटल पर ऐसा कोई राष्ट्र नहीं जो सफलतापूर्वक अमेरिका का सामना कर सकता है। इसलिए शीत युद्ध के तुरंत बाद की अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था के रूप में व्याख्या की गई। उस दौरान अमेरिका ने प्रत्येक वैश्विक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, चाहे वह 1994 में नाटो के आकार का विस्तार था या उत्तरी

आयरलैंड की शांति प्रक्रिया, इराक में सद्दाम हुसैन का तख्तापलट या अफगानिस्तान में तालिबान शासन और कट्टरपंथी ताकतों के विरुद्ध लड़ाई। हालांकि पिछले एक दशक से विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में अमेरिका की स्थिति में तेजी से कमी आई है, वैश्विक आर्थिक मंदी, आतंकवाद गैर पारंपरिक सुरक्षा खतरे, उभरती हुई आर्थिक शक्तियों (चीन, जापान, जर्मनी, यूरोपीय यूनियन और भारत) ने विश्व व्यवस्था को बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था की ओर अग्रसर किया है।

- **नयी विश्व व्यवस्था** : शीतयुद्धोत्तर काल में अमेरिका के महाशक्ति के रूप में उभरने के साथ ही अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जॉर्ज बुश सीनियर ने अमेरिकी कांग्रेस में नई विश्व व्यवस्था का नारा दिया। इसके कुछ महत्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार है–

  (क) अमेरिका और रूस के मध्य सहयोग व समन्वय।

  (ख) विश्व में शांति, सुरक्षा एवं न्याय को स्थापित करना।

  (ग) विकसित और विकासशील राष्ट्रों के बीच सहयोग को बढ़ावा देना।

  (घ) आतंक से मुक्त विश्व की स्थापना।

  (ङ) नई विश्व व्यवस्था में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को और अधिक सशक्त करना।

  प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन द्वारा एवं द्वितीय विश्व युद्ध के बाद में राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट द्वारा भी नई विश्व व्यवस्था की बात की गई थी। सीनियर बुश द्वारा एक बार पुनः नई विश्व व्यवस्था की बात को विश्व पटल पर रखा गया। हालांकि आलोचकों का मत था कि नई विश्व व्यवस्था के माध्यम से अमेरिका अपने प्रभुत्व में वृद्धि करना चाहता है इसलिए उन्होंने अमेरिका द्वारा प्रतिपादित इस संकल्पना का खंडन किया।

- **उदारीकरण वैश्वीकरण एवं आर्थिक संस्थाओं का प्रभुत्व** : शीत युद्ध की समाप्ति के साथ ही उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की अवधारणा जोर पकड़ने लगी जिससे विश्व में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं का प्रभाव बढ़ने लगा। इन संस्थाओं पर पश्चिमी राष्ट्रों विशेषकर अमेरिका का प्रभाव साफ दिखाई देता है। वैश्वीकरण ने राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी पक्षों को प्रभावित किया, जिससे राष्ट्र राज्य की सत्ता में कमी आई। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने नवउदारवादी आर्थिक व्यवस्था को एक नई गति प्रदान की, जिसने बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथों में पर्याप्त शक्ति आ गयी। ब्रिटेन वुड्स व्यवस्था की संस्थाएं (आईएमएफ एवं विश्व बैंक) साथ ही बहुराष्ट्रीय निगमों ने राष्ट्र राज्य की सत्ता में सेंध लगानी शुरू कर दी जिससे, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राज्य की एकमात्र कर्ता के रूप में पहचान को धक्का लगा।

  सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) में क्रांति के कारण बढ़ते मेलजोल और एक सहवर्ती अंतर–निर्भरता के कारण दुनिया भी छोटी हो गई । हालांकि, वैश्वीकरण के साथ वैश्विक असमानता भी बढ़ी। विश्व के कई राष्ट्र नियंत्रित अर्थव्यवस्था से मुक्त अर्थव्यवस्था में संक्रमण के आघात से उबरने के लिए संघर्ष कर हैं।

- **सुरक्षा के बदलते आयाम** : परंपरागत रूप से सुरक्षा का अर्थ राज्य की बाहरी खतरों से सुरक्षा अथवा एक राज्य की अन्य राज्य से सुरक्षा के रूप में लिया जाता है, जिसके लिए प्रत्येक राज्य हथियार और सैन्य सामग्री के एकत्रीकरण में लगा रहता है। किंतु शीत युद्ध काल में सुरक्षा का अर्थ व्यापक हो गया है। आज राज्यों को केवल दूसरे राज्य से सुरक्षा का खतरा नहीं रह गया है, बल्कि आतंरिक और गैर परंपरागत स्रोतों से भी खतरा है। शीत युद्ध के बात के काल में विश्व के अनेक देशों को गृह–युद्ध एवं आंतरिक संघर्षों का सामना करना पड़ा। यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान जॉर्जिया, बोस्निया, श्रीलंका, लाइबेरिया, रवांडा ताजीकिस्तान, सियरा लीओन, आदि सभी देशों में गृह युद्ध हुए, जिन्होंने राज्य की सुरक्षा को खतरे में डाला।

  पृथकतावादी, जातीय संघर्षों ने राष्ट्रों के अंदर अस्थिरता उत्पन्न की है। आज आतंकवाद और आईएसआईएस अल–कायदा तथा लश्कर–ए–तैयबा जैसे आतंकवादी संगठनों ने पश्चिमी राष्ट्रों सहित विश्व के लगभग सभी क्षेत्रों की सुरक्षा पर आघात किया है। अमेरिका की 9/11 की घटना और भारत में 26/11 की घटना ने विश्व को दहला दिया था।

  शीत युद्ध के बाद विश्व में सुरक्षा के लिए गैर पारंपरिक खतरे भी गंभीर होते जा रहे हैं। सार्स, मर्स इबोला, कोविड–19 जैसी महामारियों ने राष्ट्रों को आंतरिक चुनौती दी है। इसके अतिरिक्त जलवायु परिवर्तन, आर्थिक मंदी, ऊर्जा सुरक्षा, पर्यावरण असंतुलन से उत्पन्न खतरे, विश्व सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं।

- **संयुक्त राष्ट्र की भूमिका एवं सुरक्षा परिषद के विस्तार की मांग** : शीत युद्ध के बाद के काल में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका में वृद्धि हुई। शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्र महाशक्तियों की प्रतिद्वंदिता का अखाड़ा बन कर रह गया था। जहां सोवियत संघ और अमेरिका द्वारा एक –दूसरे के विरोध में निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग किया जाता रहा था। किन्तु शीतयुद्धोत्तर काल में संयुक्त राष्ट्र द्वारा कई महत्वपूर्ण प्रयास किये गए। विभिन्न गृह युद्धों से जूझ रहे राष्ट्रों में शांति सेना भेजने के साथ ही निशस्त्रीकरण की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गयी। 1992 में संयुक्त राष्ट्र महासचिव बुतरस घाली द्वारा "एन एजेंडा फॉर पीस" की घोषणा की गयी जिसके अंतर्गत उन्होंने पीस कीपिंग, पीस बिल्डिंग तथा पीस मेकिंग का नारा दिया।

  सुरक्षा परिषद में विस्तार की बात लम्बे समय से महसूस किया जाता रहा है किन्तु शीत युद्ध काल में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। बस 1965 में इसकी अस्थायी सदस्य संख्या 6 से बढ़ा कर 10 दी गयी थी। इसके पश्चात संयुक्त राष्ट्र की सदस्य संख्या में तो वृद्धि हुई है (वर्तमान में 193 सदस्य राष्ट्र) किन्तु सुरक्षा परिषद् का विस्तार नहीं हुआ जो की औचित्यपूर्ण नहीं। सुरक्षा परिषद में सभी क्षेत्रों का सही प्रतिनिधित्व नहीं है। चीन के अतिरिक्त एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका से कोई राष्ट्र स्थायी सदस्य नहीं है। अतः भारत सही अनेक देशों द्वारा सुरक्षा परिषद् के लोकतंत्रीकरण की मांग निरतर उठायी जा रही है।

कुल मिलाकर, शीत युद्ध के समाप्ति के बाद से लेकर अब तक की अवधि में अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बहुत कुछ नया हुआ है। अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में कई बदलाव आये हैं। हमने शीत युद्ध के विश्व से इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में वैश्वीकृत दुनिया तक के संक्रमण काल को देखा है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति गतिशील है अतः शक्ति का संतुलन और वैश्विक मुद्दें भी निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. विश्व व्यवस्था में कौन–सा राष्ट्र महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया?

   (क) रूस (ख) चीन

   (ग) भारत (घ) संयुक्त राज्य अमेरिका

8. संयुक्त राष्ट्र महासचिव बुतरस घाली द्वारा "एन एजेंडा फॉर पीस की घोषणा कब की गई?

   (क) सन् 1982 (ख) सन् 1988

   (ग) सन् 1992 (घ) सन् 1998

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (घ)
4. (ग)
5. (ग)
6. (ख)
7. (घ)
8. (ग)

3.7 सारांश

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सबसे महत्वपूर्ण विकास विश्व के विभिन्न भागों में क्षेत्रवाद या क्षेत्रीय संगठनों का विकास था, जिसने क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को गति दी। क्षेत्रवाद को यूरोपीय समाज के आर्थिक एकीकरण से बड़ी सफलता प्राप्त हुई, जिसके बाद विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी क्षेत्रवाद और क्षेत्रीय संगठनों का उद्‌भव हुआ।

क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्रों ने कई उतार–चढ़ाव का सामना किया है। यूरोपीय राष्ट्रों ने तो आर्थिक एकीकरण और बाजार को एकीकृत करने की प्रक्रिया को

एक निश्चित आयाम तक पहुंचाया है, किंतु दक्षिण एशिया राष्ट्रों के संगठन अर्थात सार्क को गंभीर क्षेत्रीय अंतर्विरोधों के कारण अभी तक इसमें ज्यादा सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इस ओर अभी और प्रयास किए जाने बाकी है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में संलग्नता की नीति जिसे गुटनिरपेक्षता के रूप में लोकप्रियता मिली, उन छोटे एवं नवोदित राष्ट्रों की नीति थी जिन्होंने अपनी विदेश नीति की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने हेतु किसी भी महाशक्ति के साथ राजनीतिक एवं सैन्य गठबंधन से इनकार किया। इसके परिणामस्वरूप शीत–युद्ध काल में 'तृतीय विश्व' के महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभरने से अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति में परिवर्तन आया। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय मामलों में अपना स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व ने दो महाशक्तियों अमेरिका और सोवियत संघ की आपसी प्रतिद्वंद्विता शत्रुता और अविश्वास को एक लंबे समय तक देखा जिसे शीत युद्ध का नाम दिया गया और इसकी समाप्ति भी 90 के दशक में अंतत सोवियत संघ के विघटन के साथ हुई। यह मुख्यता विचारधारा और शक्ति के प्रभुत्व का संघर्ष था।

शीत युद्ध का अंत एक प्रकार से पश्चिमी मूल्य उदारीकरण लोकतंत्र और पूंजीवाद की जीत थी जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभुत्व पूरे विश्व में स्थापित किया। किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सदैव परिवर्तनशील है। अन्य आर्थिक और क्षेत्रीय ताकतें विश्व में उभर रही हैं जिससे शक्ति के वर्तमान में कई केंद्र बने हैं और उन्होंने अमेरिका की प्रभुत्व को कम किया है और बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था की ओर अग्रसर है।

3.8 मुख्य शब्दावली

- **विस्तारवाद** : किसी राष्ट्र या समूह द्वारा अपने प्रदेश या राजनीतिक प्रभाव को बाह्य रूप से बढ़ाने की प्रवृति।
- **क्षेत्रीय एकीकरण** : वह प्रक्रिया जिसमे राष्ट्रों अथवा अन्य राजनीतिक इकाइयों की निष्ठा एक राष्ट्र की सीमा से एक क्षेत्रीय सत्ता की तरफ स्थांतरित हो जाती है।
- **मुक्त व्यापार क्षेत्र** : वह क्षेत्र जिसमे व्यापारिक वस्तुओं और उत्पाद बिना सीमा शुल्क के स्वतंत्र रूप से लाये एवं ले जाए सकते हैं।
- **मनोवैज्ञानिक युद्ध** : युद्ध में शत्रु का मनोबल तोड़ने के लिए अनेक उपायों द्वारा मनोवैज्ञानिक दबाव डालना जैसे –झूठा प्रचार, आतंक एवं भय की क्रियाएं।
- **उपनिवेशवाद** : किसी देश द्वारा अपनी राजनीतिक सत्ता का अन्य राष्ट्रों में विस्तार, जिससे वह उनपर अपना नियंत्रण स्थापित कर सके और उनके संसाधनों का अपने हितों में प्रयोग कर सके।

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. क्षेत्रवाद से क्या तात्पर्य है? विश्व के कुछ प्रमुख क्षेत्रीय संगठनों के नाम बताइये?
2. सार्क का गठन कब हुआ और वर्तमान में कौन–कौन देश इसके सदस्य हैं?
3. साफ्टा से क्या समझते हैं?
4. असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता से क्या समझते हैं? गुट निरपेक्ष आंदोलन के प्रमुख नेताओं के नाम बताइये?
5. वर्तमान में असंलग्नता की क्या भूमिका को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
6. शीत युद्ध से क्या तात्पर्य है।
7. ट्रूमैन सिद्धांत के उद्देश्यों को समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अंतरराष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रवाद की व्याख्या कीजिये और क्षेत्रीय संगठनों के उदय के कारणों का वर्णन कीजिये?
2. सार्क एवं यूरोपीय यूनियन का परीक्षण कीजिये?
3. अंतरराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता के आधार, भूमिका एवं महत्व का मूल्यांकन कीजिये?
4. शीत युद्ध के कारण एवं परिणामों की चर्चा कीजिये?
5. शीत युद्ध के विभिन्न चरणों का विवेचन कीजिये?

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

Biswal Tapan (2010), Antarrashtriy Sambandh, New Delhi: Macmillan Publishers India Ltd.

Chatterjee,Aneek (2010), International Relations Today: Concepts and Application] Delhi: Pearson.

Heywood, Andrew (2014), Global Politics, UK: Palgrave Macmillan.

Khanna V.N. (2014) Antarrashtriy Sambandh, Noida: Vikas Publishing House.

Pant Pushpesh (2011) International Relations in 21st Century, New Delhi: Tata McGraw& Hill.

इकाई 4 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा
4.3 उत्तर–दक्षिण संवाद
4.4 नई विश्व व्यवस्था
4.5 दक्षिण–दक्षिण संवाद
4.6 वैश्वीकरण
  4.6.1 विश्व व्यापार संगठन
  4.6.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष
  4.6.3 विश्व बैंक
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था अध्ययन का वह क्षेत्र है, जो राजनीतिक आर्थिक शक्तियों के मध्य अंतर्क्रिया से संबंधित है। भले ही राज्य अंतरराष्ट्रीय राजनीति का केंद्र बिंदु रहे हैं, किंतु उन्होंने धीरे–धीरे बहु–राष्ट्रीय निगमों के साथ अपने संबंधों को तीव्र किया है और अन्य अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों से जुड़ाव को मजबूत किया है। वैश्विक परिवर्तन एवं घटनाएं केवल राज्यों के मध्य अंतर्क्रिया का परिणाम ही नहीं हैं बल्कि अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के कई अलग–अलग प्रकार के अभिकर्ताओं से भी प्रभावित होती हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने 1960 के दशक के मध्य में विश्व अर्थव्यवस्था की समस्याओं और तीसरी दुनिया के विकास में पिछड़ेपन के कारण विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना शुरू किया। विकसित व विकासशील राष्ट्रों के मध्य की असमानता ने उत्तर–दक्षिण संवाद, नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और दक्षिण–दक्षिण संवाद जैसे अवधारणाओं का प्रादुर्भाव किया।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने 1990 के दशक के बाद से कई मूलभूत परिवर्तनों का अनुभव किया है। इन परिवर्तनों में शीत युद्ध की समाप्ति और सत्तावादी साम्यवाद पर लोकतांत्रिक पूंजीवाद की जीत, सूचना या इंटरनेट अर्थव्यवस्था का उदय और नव–उदारवादी बाजार–उन्मुख आर्थिक विचारधारा, निजीकरण, और राज्य के लिए घटी हुई भूमिका की जीत शामिल है। दूरसंचार, परिवहन और सूचना प्रौद्योगिकी में महत्वपूर्ण तकनीकी विकास ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की अन्योन्याश्रयता

में काफी वृद्धि की है। विकास के ऐसे आयामों ने अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बदल दिया और आर्थिक वैश्वीकरण के एक नए युग की शुरुआत की।

टिप्पणी

इस इकाई हम नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, उत्तर–दक्षिण संवाद, दक्षिण–दक्षिण संवाद, नई विश्व व्यवस्था और वैश्वीकरण के बारे में अध्ययन करेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की अवधारणा की व्याख्या कर पाएंगे;
- उत्तर–दक्षिण वार्ता का विश्लेषण कर पाएंगे;
- दक्षिण–दक्षिण सहयोग को समझ पाएंगे;
- नई विश्व व्यवस्था के बारे में चर्चा कर पाएंगे;
- वैश्वीकरण के कारणों और अवधारणा का मूल्यांकन कर पाएंगे।

4.2 नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा

नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विचार को प्रस्तावित किये हुए कई दशक हो गए हैं। यह एक ऐसा विचार था जो अपने सभी आयामों में, विश्व अर्थव्यवस्था की विभिन्न समस्याओं के समाधान के साथ –साथ भविष्य के समेकन और विकास के लिए वास्तविक आधार प्रदान करता है। हालांकि, इसके निरंतर अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बिगड़ती स्थिति और विकसित व विकासशील देशों में बढ़ती आर्थिक विषमता के मद्देनज़र विश्व अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन की आवश्यकता की सामान्य मान्यता के बावजूद, NIEO के प्रस्तावों के कार्यान्वयन में बहुत कम प्रगति हुई है। नतीजतन, अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में इसकी भूमिका और सकारात्मक योगदान के बारे में आशाएं तेजी से लुप्त हो रही हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए मंच तैयार करने वाली ऐतिहासिक घटनाओं की पूरी श्रृंखला शुरू हुई। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। प्रत्येक राष्ट्र अपने आर्थिक हितों के हिसाब से कार्य करता था, उसका अन्य राष्ट्रों पर क्या प्रभाव होगा इसके बारे में नहीं सोचा जाता था। द्वितीय महायुद्ध ने विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं को तबाह कर दिया, उसने सभी को समग्र रूप से गरीब बना दिया। ऐसी स्थिति ने एकीकृत विश्व अर्थव्यवस्था के आयोजन के लिए एकीकृत वैश्विक प्रयास से प्रचलित व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता के लिए नेताओं के विवेक को जागृत किया। यह तत्कालीन उदारवाद द्वारा संभव हुआ, जिसने अंतरराष्ट्रीय सहयोग पर ध्यान केंद्रित किया। इस अवधारणा में विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को भारी आर्थिक सहायता शामिल थी। अंतरराष्ट्रीय सहयोग के लिए संस्थानों का एक पूरा नेटवर्क स्थापित किया गया था।

अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था से हमारा तात्पर्य, विभिन्न प्रकार के संस्थागत और विनियामक ढांचे से है, जो विभिन्न देशों को एक साथ कार्य करने में सक्षम बनाते हैं

ताकि आर्थिक उद्देश्यों जैसे विकास और व्यापार, रोज़गार, गरीबी उन्मूलन आदि, में दक्षता और निष्पक्षता के साथ अधिकतम क्षमता प्राप्त की जा सके और इस प्रकार समग्र रूप से संपूर्ण विश्व के देशों के आर्थिक कल्याण का संवर्धन हो सके। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र और इसकी विशेष एजेंसियां, जैसे IMF, वर्ल्ड बैंक, UNESCO, FAO, UNIDO और WHO की स्थापना की गई थी। इसी प्रयास में, यूएसए और यूके ने अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के विचार के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

टिप्पणी

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का अर्थ

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) की स्थापना के लिए घोषणा 1975 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के छठे विशेष सत्र में की गई थी। इसे "अंतरराष्ट्रीय समुदाय के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़" माना जाता है। नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था निष्पक्षता, संप्रभु समानता, सभी राज्यों के बीच उनकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं की असमानता के बावजूद समान हित और सहयोग पर आधारित है जिससे राष्ट्रों की आर्थिक असमानताओं को सुधारा जा सके और मौजूदा अन्याय का निवारण हो सके। इसका उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच व्यापक अंतर को समाप्त करना है और वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों के लिए आर्थिक और सामाजिक विकास और शांति और न्याय की तीव्र गति से सुनिश्चित करना है।

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) कुछ विकासशील देशों द्वारा व्यापार और विकास अपने आर्थिक हितों को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलन के माध्यम से सामने रखे गए प्रस्तावों का एक समूह था जिसमें, व्यापार की शर्तों में सुधार, विकास सहायता बढ़ाने, विकसित देशों द्वारा सीमा शुल्क के कटौती और अन्य साधन शामिल हैं। इसका अर्थ ब्रेटन वुड्स प्रणाली (जिसने इसे बनाने वाले प्रमुख देशों को लाभान्वित किया था – विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य विकसित देशों को) की जगह, तीसरी दुनिया के देशों के पक्ष में अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली का एक संशोधन था।

ब्रेटन वुड्स संस्थाएं

ब्रेटन वुड्स संस्थान विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और सीमा शुल्क और व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT) (जिसे 1995 में विश्व व्यापार संगठन (WTO) से प्रतिस्थापित कर दिया गया) है। इन्हें जुलाई 1944 में ब्रेटन वुड्स, न्यू हैम्पशायर, यूएसए में 43 देशों की बैठक में स्थापित किया गया था। इनका उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध के कारण कमजोर पड़ी अर्थव्यवस्था को फिर से बनाने और अंतरराष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने में मदद करना था। ब्रेटन वुड्स से पहले, अधिकांश देशों ने सोने के मानक का पालन किया था। इसका मतलब है कि प्रत्येक देश गारंटी देता है कि वह सोने में अपने मूल्य के लिए अपनी मुद्रा को भुनाएगा। ब्रेटन वुड्स के बाद, प्रत्येक सदस्य ने अमेरिकी डॉलर के लिए अपनी मुद्रा को भुनाने के लिए सहमति व्यक्त की, सोना में नहीं। इस प्रकार ब्रेटन वुड्स की संस्थाओं ने अमेरिकी प्रभुत्व को विश्व में स्थापित करने का कार्य किया।

नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था जो मूल रूप से अंतरराष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप तथा पूंजी और तकनीकी के प्रवाह के पुनर्गठन की मांग करती है जिससे की इसका लाभ

टिप्पणी

विकासशील देशों को अधिक न्यायसंगत तरीके से प्राप्त हो सके निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित है –

- बहुराष्ट्रीय निगमों और अन्य आर्थिक संगठनों को तर्कसंगत बनाना और उनकी गतिविधियों पर नियंत्रण रखना।
- विकसित और विकासशील राष्ट्रों की निष्पक्षता और संप्रभु समानता पर आधारित सहयोग।
- अपने प्राकृतिक संसाधनों एवं आर्थिक गतिविधियों पर प्रत्येक राष्ट्र राज्यों की स्थायी और संपूर्ण सम्प्रभुता।
- संपूर्ण अंतरराष्ट्रीय समुदाय के स्तर पर विकासशील देशों को सक्रिय सहायता का विस्तार जो किसी भी राजनीतिक या सैन्य शर्तों से मुक्त हो।
- विकासशील देशों द्वारा आयात– निर्यात की जाने वाली वस्तुओं, निर्मित और अर्ध–निर्मित सामान कच्चे माल, प्राथमिक वस्तुओं, विनिर्माण, पूंजीगत सामान के मूल्यों में न्याय पूर्ण और उचित संबंध।
- यह सुनिश्चित करना कि सुधरी हुई अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का एक मुख्य उद्देश्य होगा विकासशील देशों के विकास और वास्तविक संसाधन के पर्याप्त प्रवाह को बढ़ावा देना।
- विकासशील देशों को वित्तीय संसाधनों के हस्तांतरण के लिए अनुकूल परिस्थितियों को सुरक्षित करना।
- आपसी आर्थिक व्यापार के व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों के माध्यम से, विकासशील देशों के बीच वित्तीय और तकनीकी सहयोग, मुख्य रूप से अधिमान्य आधार पर;

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के उद्‌भव के पीछे बहुत से कारण रहे हैं जिनका विश्लेषण किया जाना आवश्यक है। इनमें से सबसे मौलिक अंतरराष्ट्रीय सामाजिक और राजनीतिक वातावरण है जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकसित हुआ है। इसने शेष उपनिवेशों की समाप्ति को प्रोत्साहित किया और दर्जनों नए स्वतंत्र राष्ट्र–राज्यों के अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में लाया। इन नव–स्वतंत्र राज्यों की स्थिति संप्रभु और अन्य सभी स्वतंत्र राज्यों के बराबर घोषित की गई। हालांकि, नए देशों की नई राजनीतिक और न्यायिक स्थिति उनकी वास्तविक आर्थिक स्थितियों से मेल नहीं खाती थी। ज्यादातर नव–स्वतंत्र अफ्रीकी– एशियाई और लैटिन अमेरिका के राष्ट्र अपने आर्थिक विकास के लिए विकसित राष्ट्रों पर निर्भर थे। विकसित राष्ट्रों द्वारा आर्थिक सहायता के नाम पर उन पर कठोर शर्तें लगायी गयी जिसने एक नए साम्राज्यवाद के प्रकार को जन्म दिया जिसे हम नव–उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जानते हैं। इसने विकसित और विकासशील देशों के मध्य आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर गहरी खाई पैदा कर दिया।

नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के प्रमुख कारण

टिप्पणी

नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के प्रमुख कारणों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं द्वारा विकसित राष्ट्रों के हितों में कार्य करना।
- वैश्विक आर्थिक संस्थाओं में सुधार किये जाने वाले दृष्टिकोण का अभाव।
- वैश्विक आर्थिक मंदी
- विकसित राष्ट्रों के द्वारा संरक्षणवाद की नीति को अपनाया जाना।
- विकासशील राष्ट्रों पर कर्ज का बढ़ता बोझ।

अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में आर्थिक विषमता न केवल व्यापार के स्वरूप को नियंत्रित करने वाले समृद्ध राष्ट्रों की प्रमुख शक्ति में प्रकट होती है बल्कि उनकी उन शर्तों को निर्धारित करने की क्षमता से भी स्पष्ट होती है जिससे उनकी तकनीक, विदेशी सहायता और निजी पूंजी का स्थानंतरण होता है। इस प्रक्रिया में, पहली और दूसरी दुनिया के व्यवहार के मूल्य, दृष्टिकोण, संस्थाएं और मानक भी स्थानांतरित हो जाते हैं, जिससे ऐसी स्थिति पैदा होती है जिसमें विकसित देश अपना वर्चस्व बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार आर्थिक, तकनीकी, राजनीतिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की व्यवस्था स्थापित होती है।

1960 के दशक की शुरुआत में आर्थिक कार्यक्रमों और लक्ष्यों की एक श्रृंखला ने आशावादी उत्साह को जन्म दिया। 1961 में प्रथम संयुक्त राष्ट्र विकास दशक की शुरुआत हुई, 1964 में व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (UNCTAD) का निर्माण, और 1961 में क्षेत्रीय समझौते जैसे 'एलाइंस फॉर' और 1963 में प्रथम 'यॉन्डे कन्वेंशन' के रूप में इस तरह के प्रमुख कार्यक्रमों में से थे। 1960 के अंत तक, हालांकि, उम्मीदों को निराशा मिली और उत्साह कम हुआ। विकास दशक की उपलब्धि अपने लक्ष्य से बहुत कम हुई और प्रथम 'यॉन्डे कन्वेंशन' को दूसरे द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। 1968 और 1972 में UNCTAD के दूसरे और तीसरे सत्र, भी पहले द्वारा प्रदान की गई उम्मीदों पर खरा उतरने में असफल रहे। इस प्रकार नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था NIEO की स्थापना के लिए आंदोलन मौजूदा अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में मौजूदा कमियों और GATT और UNCTAD अपने निहित उद्देश्यों की पूर्ति की सकल विफलताओं के कारण होता है।

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ने इन घटनाओं की श्रृंखला के संदर्भ में एक अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक मुद्दे के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। 1970 में गुट–निरपेक्ष देशों के लुसाका शिखर सम्मेलन ने असंलग्नता और आर्थिक प्रगति पर एक बड़ी घोषणा को अपनाया, जो पिछले शिखर सम्मेलन के विपरीत था, जहां पर मुख्यतः राजनीतिक चिंताओं का वर्चस्व था। गुटनिरपेक्ष देशों की 1972 की विदेश मंत्रियों की बैठक पहले ही एक विशेष आर्थिक समिति द्वारा तैयार की गई थी और उनके अल्जीयर्स सम्मलेन ने एक 'एक्शन प्रोग्राम' तैयार किया, जिसमें 1974 में संयुक्त राष्ट्र के विशेष सत्र में NIEO पर कार्रवाई की घोषणा और कार्यक्रम में बाद में अपनाये जाने वाले अधिकांश विषयवस्तु को शामिल किया गया था। इसके बाद, NIEO के

तत्वावधान में सभी घोषणाओं, संकल्पों, स्थिति पत्रों और अध्ययनों की एक विशाल शृंखला आई। इस शृंखला में महासभा का संकल्प 32/174 शामिल है, जो 1980 में NIEO पर एक और विशेष सत्र के लिए कहता है।

टिप्पणी

NIEO ने विकासशील एवं कम विकसित राष्ट्रों के व्यापार की समस्याओं को हल करने के लिए विकसित देशों की ओर से एक गंभीर सोच का नेतृत्व किया। दो दिशाओं में क्रमादेशित क्रियाओं की ओर एक कदम बढ़ा है: (i) विकासशील देशों के निर्यात योग्य मालों की कीमतों को स्थिर करने की दृष्टि से 'कमोडिटी एग्रीमेंट'; और (ii) आईएमएफ के उदार ऋणों के माध्यम से कम विकसित राष्ट्रों को कीमतों में उतार–चढ़ाव के कारण घाटे के लिए अनिवार्य वित्तपोषण। विकासशील देशों ने नारा दिया की "ट्रेड नॉट ऐड" अर्थात सहायता नहीं व्यापार करो क्योंकि विकसित देशों ने विकासशील देशों के साथ व्यापार पर कई प्रकार की प्रतिबंधित शर्ते थोप रखी थी किंतु विकसित देशों का दावा ऐसा प्रदर्शित किया जाता था की वे विकासशील देशों को अनुदान दे रहे हैं।

नई अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्य मांगे –

- विकसित देशों के साथ व्यापार की शर्तों में सुधार।
- तृतीय विश्व के राष्ट्रों के ऋण में कमी करना।
- विकासशील राष्ट्रों को तकनीकी का हस्तांतरण।
- ब्रेटनवुड की संस्थाओं की पुनर्संरचना।
- अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का पुनर्गठन।
- विकसित राष्ट्रों के बाजार तक विकासशील राष्ट्रों के उत्पादों की पहुंच को सुनिश्चित करना।

इस प्रकार यह अमीर देशों से गरीब देशों को सहायता के प्रवाह के माध्यम से दुनिया के संसाधनों के अधिक न्यायसंगत आवंटन का सुझाव देता है। इसका उद्देश्य गरीब देशों को बढ़ी हुई भागीदारी प्रदान करना है और अंतरराष्ट्रीय मामलों में निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में अपनी बात कहना है। NIEO का महत्वपूर्ण उद्देश्य स्वयं सहायता और दक्षिण–दक्षिण सहयोग के माध्यम से गरीब देशों के बीच आर्थिक विकास को बढ़ावा देना है। इसका इरादा दक्षिण (विकासशील देशों) की प्रमुख समस्याओं से निपटने का है, जैसे कि भुगतान संतुलन, ऋण संकट, विनिमय संकट आदि।

अपनी प्रगति जांचिए

1. नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रस्ताव कब पारित हुआ?

   (क) 1970 (ख) 1975

   (ग) 1980 (घ) 1985

2. व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन कब हुआ?

   (क) 1961 (ख) 1964

   (ग) 1968 (घ) 1969

4.3 उत्तर–दक्षिण संवाद

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में वैश्विक परिवेश का विभाजन क्षेत्रों और राज्यों से और व्यापक स्तर पर उत्तर और दक्षिण में किया जाता है। उत्तर और दक्षिण के बीच सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य विकास में अंतर ने प्रतिक्रियाओं और संवादों को आकर्षित किया है जो उनके बीच विद्यमान असंतुलन को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं। हालांकि उत्तर और दक्षिण जैसे शब्दों का एक भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में प्रयोग होता है, लेकिन अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में ये भौगोलिक संदर्भ में प्रयुक्त नहीं होते हैं। उत्तर और दक्षिण अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में प्रथम विश्व और तृतीय विश्व के देशों के बीच के आर्थिक असमानता को इंगित करती हैं।

उत्तर–दक्षिण संवाद की अर्थवत्ता

शीत युद्ध के दौरान उनकी आर्थिक और विकासात्मक स्थिति के आधार पर पूर्व और पश्चिम के वर्गीकरण के साथ देशों का वर्गीकरण प्रारंभ हुआ। सोवियत संघ और चीन ने विकासशील पूर्व का प्रतिनिधित्व किया और संयुक्त राज्य अमेरिका और उनके सहयोगियों ने विकसित पश्चिम का प्रतिनिधित्व किया। इस विकासात्मक वर्गीकरण में प्रथम विश्व (पश्चिम), द्वितीय विश्व (पूर्व) और सबसे कम विकसित देशों को तृतीय विश्व कहा गया। किंतु कुछ समय बाद द्वितीय विश्व विकसित हो कर प्रथम विश्व में शामिल हो गए और अन्य राष्ट्र तृतीय विश्व कहलाये, इसलिए एक नया वर्गीकरण आवश्यक हो गया और जिसने उत्तर–दक्षिण वर्गीकरण का नेतृत्व किया। प्रथम विश्व उत्तर बन गया और तृतीय विश्व दक्षिण बन गया।

उत्तर विश्व के पश्चिमी राष्ट्रों से बना है, जिनकी अर्थव्यवस्थाएं समृद्ध, आत्मनिर्भर या स्व–केंद्रित और पुरानी हैं। वे तकनीकी रूप से भी उन्नत और मजबूत हैं। ऐसे देश उत्तरी अमेरिका, यूरोप और औद्योगिक एशिया जैसे सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, चीन, हांगकांग हैं। उत्तर के राष्ट्रों में उच्च जीवन स्तर, उच्च साक्षरता स्तर, बुनियादी सुविधाओं एवं विकास की उपस्थिति, जीवन और संपत्ति की बेहतर सुरक्षा, बेहतर सामाजिक कल्याण, अंतरराष्ट्रीय सामाजिक प्रवृत्ति को प्रभावित करने की क्षमता जैसी विशेषताएं दिखाई देती हैं। उत्तर के राष्ट्रों में सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में स्थिरता, उच्च विज्ञान और तकनीकी प्रगति, उच्च उत्पादन क्षमता और उद्योगों की उपलब्धता के प्रति भेद्यता के खिलाफ मजबूत प्रतिरक्षा पाई जाती है।

दक्षिण तृतीय विश्व के देश हैं जो औद्योगीकृत राष्ट्रों पर निर्भर और कमजोर है। इनमें लैटिन अमेरिका, अफ्रीका, पिछड़े एशिया और मध्य पूर्व के देश शामिल हैं। दक्षिण के राष्ट्र औपनिवेशिक और नव–औपनिवेशिक शोषण जैसे सामान्य अनुभवों को साझा करते है। बाहरी ताकतें इनके सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। ये मुख्यतः पश्चिमी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर निर्भर करते हैं और अंतरराष्ट्रीय स्तर के मुद्दों पर इनका प्रभाव कम है।

दक्षिण देशों की मौलिक सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक नीतियां अंतरराष्ट्रीय संगठनों, बहुराष्ट्रीय निगमों और विदेशी सरकार द्वारा बनाई गई हैं और उनकी सरकारों

टिप्पणी

को प्रभावित करती हैं। उनकी अधिकांश आबादी गरीबी की स्थिति में है, उनके आर्थिक आधार कमजोर हैं जो केवल कुछ प्राथमिक कृषि उत्पादों का उत्पादन करते हैं। इसके अतिरिक्त तकनीकी कौशल का अभाव, निम्न जीवन स्तर, राजनीतिक अस्थिरता, अकुशल नेतृत्व, भ्रष्टाचार और संसाधनों का कुप्रबंधन, साथ ही मजबूत सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक संस्थानों की अनुपस्थिति जैसी विशेषताएं इन राष्ट्रों में दिखाई देती हैं।

इस प्रकार उत्तर–दक्षिण संवाद उस प्रक्रिया को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से दक्षिण के विकासशील और नव–स्वतंत्र राष्ट्रों, मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में, उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक देशों के साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक बदलावों और विकास के लाभ को तृतीय विश्व के राष्ट्रों तक पहुंचने के प्रयत्नों पर बातचीत और संवाद के प्रयास किये गए।

उत्तर–दक्षिण संवाद की पृष्ठभूमि : द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लैटिन अमेरिका के कई राष्ट्र संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यापार और सीमा शुल्क नीतियों से निराश हो गए थे। उसी समय, एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवादी आंदोलनों ने व्यापक उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता में भी वृद्धि हुई जो 1945 में 51 देशों से 1960 और 1979 में 100 हो गयी थी। नए देशों के अचानक प्रवेश ने महासभा में शक्ति संतुलन को बदल दिया और 1964 में UNCTAD की स्थापना संभव हो गई। अंकटाड ने एक ऐसा मंच प्रस्तुत किया, जिसके माध्यम से "दक्षिणी" या "तृतीय विश्व" राष्ट्र आर्थिक नीतियों का प्रस्ताव कर सकते थे।

इसके साथ ही अन्य कई कारकों ने भी औद्योगिक देशों की संवाद की इच्छा को बढ़ाया। जैसे की अरब राष्ट्र विश्व में तेल उत्पादक देशों की बढ़ती शक्ति का प्रतीक बन रहे थे, और साथ ही वियतनाम के युद्ध में अमेरिकी को भारी नुकसान हुआ था, जिसने दुनिया और औद्योगिक उत्तर के देशों दोनों को ही प्रदर्शित किया कि धन और शक्ति भी सैन्य जीत की गारंटी देने के लिए पर्याप्त नहीं थी। इन दोनों मुद्दों ने आर्थिक शक्ति के वैश्विक संतुलन की ओर पश्चिमी राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित किया। ऐसा महसूस किया गया की औद्योगिक विश्व विकास जैसे मुद्दों पर अधिक ध्यान दे सकते है। इस बीच, नव–औद्योगिकीकरण अर्थव्यवस्थाओं का मानना था कि विकसित अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली विकासशील देशों की कीमत पर विकसित देशों को लाभान्वित करती है। उन्होंने इस असंतुलन को सुधारने के लिए अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के पुनर्गठन की उम्मीद की। 1970 के दशक में 'दितान्त' के काल के दौरान, जब पूर्व–पश्चिम तनाव में कमी आयी थी, तो औद्योगिक देशों के मध्य सहयोग करने की इच्छा बढ़ी थी। 1970 के दशक के मध्य में दितान्त लड़खड़ाने लगा, किंतु उत्तर–दक्षिण संवाद के पक्षकारों ने अपनी चर्चा को जारी रखा।

उत्तर–दक्षिण संवाद ने व्यापार और शुल्क, अंतरराष्ट्रीय वित्त, विदेशी सहायता और बहुराष्ट्रीय कंपनियों और संस्थानों के शासन से संबंधित मुद्दों को संबोधित किया। उत्तर–दक्षिण संवाद को दुनिया के गरीब और अमीर देशों के बीच एक राजनीतिक संघर्ष के रूप में भी देखा जा सकता है, इस दृष्टि से उत्तर–दक्षिण संवाद एक ऐसा मंच तैयार किया जिसके माध्यम से दक्षिण के देश संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के भीतर वैश्विक मुद्दों को निर्धारित करने के लिए और उत्तर की क्षमताओं का मुकाबला करने के लिए अपनी शक्ति को एकजुट कर सकते है।

उत्तर दक्षिण संवाद से संबंधित सम्मेलन

टिप्पणी

उत्तर–दक्षिण संवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जो समझौतों को प्राप्त करने के लिए शिखर सम्मेलन, संवाद, वार्ता और बैठकों का उपयोग करने के लिए नियत किया गया है और ऐसे कार्यक्रम जो इस असंतुलन को कम कर सकते हैं। इसमें निम्नलिखित प्रयास सम्मिलित हैं–

- 1975–1977 का पेरिस सम्मलेन
- 1997 में ब्रांट आयोग की स्थापना
- 1980 में विकसित एवं विकासशील देशों के मध्य आर्थिक मुद्दों पर बातचीत के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का विशेष सत्र बुलाया गया।
- 1981 में कानकुन सम्मेलन
- 1983 में न्यूयॉर्क सम्मेलन
- उरुग्वे वार्ता एवं डंकेल प्रस्ताव 1986 –1991
- 1992 और 1997 में पृथ्वी सम्मेलन
- 1993 में अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन

उत्तर–दक्षिण संवाद स्थापित करने के लिए कई प्रयास किए गए है, ताकि दक्षिण के देशों को बेहतर बनाया जा सके किंतु साक्ष्यों से पता चलता है व्यावहारिक रूप से बहुत कुछ हासिल नहीं हुआ है। स्पष्ट तथ्य यह है कि दक्षिण के अधिकांश देश अभी तक औद्योगीकृत नहीं हो पाए हैं। उनकी अर्थव्यवस्थाओं ने कोई प्रासंगिक विकासात्मक सफलता नहीं प्राप्त की है, जिससे उत्तर और दक्षिण में गंभीर असमानता दिखाई देती है। उनके सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक वातावरण की गतिशीलता अभी भी बाहरी कारकों के अधीन है। अभी भी अंतरराष्ट्रीय संगठनों और बहुराष्ट्रीय निगमों में उनके हितों के अनुरूप नीतियों को आकार देने की स्थिति में दक्षिण के राष्ट्र सफल नहीं हुए हैं।

जी 20, AU, गुटनिरपेक्ष और दक्षिण के अन्य संगठनों ने विश्व बैंक, आईएमएफ, डब्लूएचओ, में सदस्य देशों के मतदान के अधिकार पर पुनर्विचार और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के लोकतंत्रीकरण की मांग को हमेशा उठाया है किंतु अभी तक इस पर कोई भी काम नहीं किया गया है। अभी भी कि औद्योगिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्रों विशेष रूप से अमेरिका, और यूरोपीय संघ का इन संगठनों के प्रमुख वोटों के प्रतिशत को नियंत्रित कर रहे हैं और इन माध्यमों से वैश्विक व्यवस्था के मूलभूत निर्णय लेने वाले तंत्र पर प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं। इसलिए, यह स्पष्ट है कि उत्तर–दक्षिण असमानता के बारे में कई सम्मेलन और वादे किए गए हैं, फिर भी इन संवादों, मांग और वादों के माध्यम से कुछ भी हासिल नहीं हुआ है। हालांकि, संयुक्त राष्ट्र ने सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों के माध्यम से उत्तर और दक्षिण के बीच के विभाजन को कम करने में भी अपनी भूमिका स्थापित की है, जो 2015 तक प्राप्त किए जाने थे। ये लक्ष्य अत्यधिक गरीबी और भूख को मिटाना चाहते हैं, वैश्विक सार्वभौमिक शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा को बढ़ावा देते हैं। वर्तमान में उत्तर–दक्षिण संवाद को प्रभावी बनाने के लिए जापान जैसे देशों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है साथ ही अंतरराष्ट्रीय संगठनों की संरचना

में भी मूलभूत सुधार की आवश्यकता है जिससे वे दक्षिण के राष्ट्रों के हितों का प्रतिनिधित्व का माध्यम बन सकें।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. अंकटाड की स्थापना कब की गई थी?

(क) सन् 1950 (ख) सन् 1954

(ग) सन् 1960 (घ) सन् 1964

4. अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन कब हुआ था?

(क) सन् 1992 (ख) सन् 1993

(ग) सन् 1997 (घ) सन् 1999

4.4 नई विश्व व्यवस्था

1990 के दशक ने न केवल सोवियत संघ के पतन और द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था के प्रभावी अंत को चिह्नित किया, जिसकी मुख्य विशेषता प्रतिद्वंद्विता, रणनीतिक गठबंधन (आर्थिक और सैन्य), सुरक्षा दुविधा, क्षेत्रीय परोक्ष युद्ध, और विनाशकारी हथियारों की होड़ रही। बल्कि सोवियत संघ का विघटन पूंजीवादी उदारवादी लोकतांत्रिक पश्चिमी गुटों की जीत का भी प्रतीक था। इसने कारण अमेरिका को विश्व अर्थव्यवस्था, व्यापार और बुनियादी ढांचे, सैन्य, विचारों के प्रभुत्व आदि के साथ एकमात्र महाशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था।

नई विश्व व्यवस्था की अवधारणा बीसवीं शताब्दी में तीन बातें प्रमुखता से सामने आई। वुडरो विल्सन ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद एक 'नई विश्व व्यवस्था' बनाने की मांग की थी। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने एक बार पुनः नई विश्व व्यवस्था की कल्पना की, जो संयुक्त राष्ट्र (यूएन) के एक अंतरराष्ट्रीय निकाय के निर्माण के माध्यम से अधिक स्थिरता और शांति सुनिश्चित करेगा, हालांकि उन्होंने इसे एक ऐसे निकाय के रूप में देखा जो महान शक्ति सहयोग पर आधारित होगा। शीत युद्ध के बाद, फारस की खाड़ी संकट (1990–1991) के दौरान, जॉर्ज बुश सीनियर के प्रशासन ने 2 अगस्त, 1990 को इराक पर कुवैत के आक्रमण के दौरान इस अवधारणा पर एक बार फिर से जोर दिया।

वुडरो के अनुसार नई विश्व व्यवस्था के विचार में प्रायः एक स्पष्ट परिभाषा का अभाव होता है, फिर भी यह निस्संदेह उदारवादी आशाओं और अपेक्षाओं को व्यक्त करती है। उनके अनुसार शीत युद्ध वैचारिक संघर्ष और आतंक के संतुलन पर आधारित था, महाशक्ति की प्रतिद्वंद्विता के अंत ने उदार शांति की संभावना को खोल दिया, जो अंतरराष्ट्रीय मानदंडों और नैतिकता के मानकों की एक सामान्य मान्यता पर आधारित है। इस उभरती हुई विश्व व्यवस्था में केंद्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाने, शक्तियों के आपसी सहयोग को बढ़ावा देने, आपसी आक्रामकता और विस्तारवाद का विरोध करने, सैन्य एवं हथियारों को नियंत्रित करने और कम करने तथा मानव अधिकारों के लिए सम्मान के माध्यम से जनसंख्या के न्यायपूर्ण उपचार को

सुनिश्चित करने की आवश्यकता को मान्यता दी गयी थी। जैसा कि फ्रांसिस फुकुयामा ने कहा था, दुनिया के सभी हिस्से उदार लोकतंत्र पर आधारित आर्थिक और राजनीतिक विकास के एकल प्रतिमान की ओर निरंतर अग्रसर होंगे।

टिप्पणी

नई विश्व व्यवस्था में वैश्वीकरण एवं उदारीकरण पर जोर दिया गया एवं विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गयी। आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से अंतरराष्ट्रीय प्रणाली को एकध्रुवीय के बजाय बहुध्रुवीय कहा जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका निश्चित रूप से एक महान आर्थिक शक्ति बनकर उभरा, लेकिन यह एकमात्र शक्ति नहीं है। अन्य शक्ति केंद्र भी हैं, विशेष रूप से, यूरोपीय संघ, एशिया–प्रशांत आर्थिक सहयोग के संगठन, के साथ कई अन्य राष्ट्र–राज्य। इस प्रकार, नई विश्व व्यवस्था के युग की अंतरराष्ट्रीय प्रणाली वास्तव में एकध्रुवीय और बहुध्रुवीय प्रणाली के मिश्रण को दर्शाती है जिसमें कम से कम पांच प्रमुख शक्तियां, संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान और रूस अंतरराष्ट्रीय मामलों पर हावी हैं।

तृतीय विश्व के राष्ट्रों का आर्थिक शोषण जारी रहा और अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों में विकसित राष्ट्रों का ही वर्चस्व कायम रहा। सभी निर्णय विकसित राष्ट्रों द्वारा ही लिए जाते रहे जिससे उत्तर और दक्षिण के राष्ट्रों में टकराव बना रहा और दक्षिण दक्षिण संवाद में तेजी आयी। हालांकि चीन आर्थिक ताकत के रूप में उभर इस विश्व व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसने अमेरिका के अधिपत्य को चुनौती देने का कार्य किया। जर्मनी और जापान ने भी आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की किंतु चीन ने आर्थिक और सैन्य दोनों ही क्षेत्रो में अपनी क्षमता को प्रदर्शित किया। अन्य बढ़ती शक्ति के रूप में भारत ने भी उल्लेखनीय आर्थिक और रणनीतिक प्रगति की है। भारत के पास चीन की भू–राजनीति वृद्धि को मात देने के लिए अपेक्षित क्षमता है। जीडीपी और औद्योगिक क्षेत्र में सुधार जैसे कि होटल, पर्यटन इस्पात निर्माण उद्योग, आदि ने भारत को एशियाई देशों में एक उभरता खिलाड़ी बना दिया है।

हालांकि अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाओं पर अभी भी विकसित राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित है और विश्व के महत्वूर्ण आर्थिक मुद्दों का निर्णय भी जी–8 के देशों द्वारा ही किया जाता है। वैश्विक बाजार अर्थव्यवस्था के प्रसार और विदेशी निवेशों के तेजी से विस्तार के साथ, भले ही विकासशील देशों विदेशी निवेश के बारे में सतर्क हैं। लेकिन संरचनात्मक रूप से उत्तर–दक्षिण असमानताएं अंतरराष्ट्रीय संघर्ष के संभावित स्रोत के रूप में बनी हुई हैं।

नई विश्व व्यवस्था के मुख्य बिंदु

नई विश्व व्यवस्था के मुख्य बिंदु निम्नलिखित हैं–

- यूरोप की भूमिका में कमी।
- अमेरिका के प्रभुत्व में वृद्धि।
- वैश्विक परिदृश्य में रूस का एक शक्ति के रूप में पहचान के लिए संघर्ष।
- चीन का एक ताकत के रूप में उभरना।
- भारत एवं ब्राजील जैसे विकासशील एवं दक्षिण के देशों की नई भूमिका।
- वैश्वीकरण और उदारीकरण।
- प्राकृतिक संसाधनों के लिए बढ़ती प्रतिस्पर्धा।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. प्रथम विश्व युद्ध के बाद किसने एक नई विश्व व्यवस्था बनाने की मांग की?

(क) वुडरो विल्सन (ख) रोनाल्ड रॉबर्टसन

(ग) स्टोसिंजर (घ) हार्टमैन

6. कौन–सा युद्ध वैचारिक संघर्ष और आतंक के संतुलन पर आधारित था?

(क) प्रथम विश्व युद्ध (ख) द्वितीय विश्व युद्ध

(ग) शीत युद्ध (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं

4.5 दक्षिण–दक्षिण संवाद

विश्व के देशों को विकास के आधार पर विकसित और विकासशील एवं उत्तर और दक्षिण में वर्गीकृत किया गया है। वैश्विक परिवर्तनों के साथ वैश्विक विकास परिदृश्य में मौलिक रूप से नए प्रकार की साझेदारी और सहयोग को पनपने का अवसर प्राप्त हुआ है। पारंपरिक रूप से आर्थिक और तकनीकी सहायता का प्रवाह विकसित "उत्तर" से विकासशील "दक्षिण" की ओर रहा है। किंतु अब विकासशील देश एक दूसरे के बीच अभूतपूर्व रूप से आर्थिक और अन्य सहयोग संबंध बना रहे हैं।

दक्षिण–दक्षिण संवाद विकासशील देशों में सरकारों, संगठनों और व्यक्तियों के बीच ज्ञान और संसाधनों के आदान–प्रदान का प्रतिनिधित्व करता है। यह व्यक्तिगत या साझा विकास उद्देश्यों पर आधारित हो सकता है। पिछले दशकों के दौरान, विकासशील देशों ने साझा चुनौतियों का सामना करने का प्रयास किया है, जिससे सामान्य क्षेत्रीय बाजार, संस्थागत और नियामक ढांचे और अंतर–राज्य परिवहन और संचार नेटवर्क का निर्माण किया जा रहा है । ये सभी दक्षिण–दक्षिण संवाद के रूप हैं । यह एक व्यापक अवधारणा है जिसमें एक विशिष्ट विकासात्मक सहयोग का आयाम सम्मिलित है। दक्षिण – दक्षिण संवाद सतत विकास को बढ़ावा देने के लिए विकासशील देशों से विकासशील देशों को विशेषज्ञता और वित्तीय सहायता का प्रावधान है।

दक्षिण–दक्षिण संवाद शब्द का अर्थ है आर्थिक क्षेत्र और अन्य क्षेत्रों में विकासशील देशों के बीच सहयोग की प्रक्रिया। वर्तमान में, दक्षिण–दक्षिण संवाद को विकासशील देशों के विकास और प्रगति के लिए उनके द्वारा एक व्यवहारिक रणनीति के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा है। दक्षिण–दक्षिण संवाद का उद्देश्य दक्षिणी राष्ट्रों के बीच आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना है और उन राज्यों के बीच आर्थिक संबंधों को मजबूत करना है जिनकी बाजार शक्ति अधिक समान रूप से मेल खाती है। यह विकासशील देशों के सामान्य विकास चुनौतियों के समाधान खोजने के लिए मिलकर काम करने का प्रयास है। ये देश इतिहास, भूगोल, और चुनौतियों की सामान्यताओं से जुड़े हैं। दक्षिण के देशों के पास साझा करने के लिए महत्वपूर्ण उदाहरण हैं, जिसमें कई की सफलता की कहानियां भी हैं जिनसे अन्य विकासशील देश सीख ले सकते हैं।

टिप्पणी

दक्षिण–दक्षिण संवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

दक्षिण–दक्षिण संवाद का एक लंबा और उल्लेखनीय इतिहास है। 1950 के दशक में, दक्षिण–दक्षिण संवाद वास्तविक स्वतंत्रता और विकास प्राप्त करने के लिए पूर्व उपनिवेशों के सामान्य संघर्ष के संदर्भ में उभरा। 1955 में बांडुंग सम्मेलन ने एशियाई–अफ्रीकी क्षेत्र में राष्ट्रीय संप्रभुता के लिए पारस्परिक हित और सम्मान के आधार पर आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एशिया और अफ्रीका के 29 देशों को एक साथ एक मंच पर लाने का कार्य किया। इस महत्वपूर्ण दक्षिण–दक्षिण सम्मेलन ने 1961 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) और 1964 में G 77 समूह के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

इसके बाद, कई प्रकार से दक्षिण–दक्षिण संवाद के प्रयास हुए हैं जैसे– आर्थिक एकीकरण से लेकर बहुपक्षीय संस्थानों के भीतर वार्ता का गठन, सैन्य आदान–प्रदान, सांस्कृतिक आदान–प्रदान के लिए संवाद। इसमें मानवीय सहायता और तकनीकी संवाद के साथ–साथ विकास परियोजनाओं, कार्यक्रमों, बजट समर्थन और भुगतान संतुलन को मजबूत करने के लिए रियायती वित्तीय सहायता का भी प्रावधान शामिल है। सहकारी संबंध सरकारों और उनकी एजेंसियों के साथ–साथ निजी उद्यमों या नागरिक समाज संगठनों के बीच भी रहे हैं। इन सभी प्रयासों ने सहयोगी देशों में सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए परिस्थितियों को मजबूत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

कई ऐसे कारक हैं, जो पारंपरिक उत्तर–दक्षिण संवाद से दक्षिण–दक्षिण संवाद को अलग करते हैं। ये निम्लिखित हैं –

- साझेदार देशों के बीच समानता
- राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति का पालन और स्वतंत्रता और राष्ट्रीय संप्रभुता के लिए सम्मान
- आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना एवं स्थानीय संसाधनों के उपयोग के लिए प्राथमिकता
- विशिष्ट संदर्भों के प्रति संवेदनशीलता में वृद्धि करना
- विचारों का विविधीकरण पर बल
- सहयोग के तरीके पर विचार करना
- स्वामित्व के व्यापक तत्व उत्पन्न करना और आदान –प्रदान में अधिक लचीलापन
- राष्ट्रों की विविधता और सांस्कृतिक पहचान का संरक्षण।
- सशर्त–आधारित परियोजना, कार्यक्रमों या बजट समर्थन की तुलना में तकनीकी सहयोग और ज्ञान हस्तांतरण पर अधिक जोर।

दक्षिण–दक्षिण संवाद के प्रमुख प्रयास –

दक्षिण–दक्षिण संवाद के मुख्य प्रयासों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

अंकटाड सम्मेलन

प्रशुल्क एवं व्यापार पर समझौता (GATT) विकासशील देशों के आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था, इसलिए 1964 में व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र

सम्मेलन (UNCTAD) की स्थापना की गयी जिसमे विकासशील देशों द्वारा एक नए अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) का आह्वान किया गया।

टिप्पणी

ग्रुप 77 –1964 में जिनेवा में व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के पहले सत्र के अंत में, 77 विकासशील देशों के एक समूह ने G77 बनाने वाले संयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए, जो संयुक्त राष्ट्र प्रणाली के अंतर्गत विकासशील देशों और सबसे कम विकसित देशों का एक सबसे बड़ा गठबंधन था। इस समूह का उद्देश्य दक्षिणी देशों को अपने सामूहिक आर्थिक हितों को व्यक्त करने और बढ़ावा देने और संयुक्त राष्ट्र प्रणाली के भीतर प्रमुख अंतरराष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों पर अपनी संयुक्त वार्ता क्षमता को बढ़ाने और दक्षिण–दक्षिण विकास के लिए संवाद को बढ़ावा देना है।

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन :

1961 में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की शुरुआत विकासशील देशों के आपसी सहयोग को बढ़ाने और दक्षिण –दक्षिण संवाद के लिए एक महत्वपूर्ण कदम था। गुटनिरपेक्ष देशों के विभिन्न शिखर सम्मेलनों में आर्थिक सहयोग बढ़ाने की योजनाओं और कृषि, खाद्यान एवं संचार तकनीकी के मामले में सहयोग के नए उपायों को तलाशने का प्रस्ताव रखा गया। 1980 के दशक में गुटनिरपेक्ष के तत्वावधान में दक्षिण–दक्षिण सहयोग के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रयास किये गए। 1986 में NAM के हरारे शिखर सम्मेलन के परिणामस्वरूप, 1987 में "दक्षिण आयोग" की स्थापना की गई, जिसने 1990 में "द चैलेंज टू द साउथ" नामक अपनी अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की।

तकनीकी सहायता :

1964 में स्थापित भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग (ITEC) का उद्देश्य कौशल उन्नयन और विकासशील देशों के लिए क्षमता और सशक्तीकरण का निर्माण करना है। ITEC एशिया और प्रशांत, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और कैरेबियन, पूर्वी यूरोप और स्वतंत्र राज्यों (CIS) राष्ट्रमंडल के देशों में 158 देशों को सहायता प्रदान करता है।

जी–15 समूह : जी–15 विश्व में फैले विकासशील देशों का एक शिखर सम्मेलन समूह, दक्षिण–दक्षिण सहयोग के माध्यम से वैश्विक मुद्दों पर सामान्य धारणाओं के अभिव्यक्ति और आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए एक मंच प्रदान करता है। संवर्धित वृद्धि और समृद्धि के सामान्य लक्ष्य के आधार पर, जी –15 की स्थापना सितंबर 1989 में नौवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के दौरान 15 विकासशील देशों द्वारा की गई थी। वर्तमान में इसके 17 सदस्य हैं, जिसमें अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका और कैरिबियन देश शामिल हैं। श्रीलंका समूह का वर्तमान अध्यक्ष हैं।

डी– 8 समूह : यह विकासशील देशों का समूह है'। यह संगठन आठ मुस्लिम विकासशील देशों में आपसी सहयोग के आधार पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को सुदढ़ बनाने के लिए कार्य करता है।

दक्षिण–दक्षिण संवाद की गति धीरे–धीरे 1980 के दशक और 1990 के दशक में दूरगामी वैश्विक आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी विकासों के कारण कम हो गई। कई विकासशील देशों में भारी ऋण के भार ने उन्हें कम या नकारात्मक विकास दर की ओर अग्रसर किया। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों में नव–उदारवादी प्रवृत्ति उत्पन्न की है। प्रत्येक ने उभरते वैश्विक क्रम के साथ

बेहतर एकीकरण करने की कोशिश की है, लेकिन सफलता असमान रही है। चूंकि चीन और भारत और अन्य "बढ़ती शक्तियां", विशेष रूप से ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका, निरंतर प्रगति के मार्ग पर हैं, जिससे दक्षिण दक्षिण सहयोग न केवल नए अवसरों का, बल्कि कई विशिष्ट चुनौतियों के साथ भी सामना किया है। भारत, ब्राजील, इंडोनेशिया और दक्षिण अफ्रीका आदि जैसे कुछ विकासशील देशों ने दूसरों की तुलना में बेहतर आर्थिक परिणाम प्राप्त किए हैं। इसने विकासशील देशों के बीच की खाई को चौड़ा किया है। अब, 'दक्षिण' और 'गरीब दक्षिण' की धारणा का विकास हुआ है। गरीब दक्षिण के देशों के पास वैश्विक आर्थिक व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा करने के लिए तत्वों की कमी है। इससे दक्षिण–दक्षिण सहयोग के लिए नई चुनौतियां उपस्थित हुई हैं।

वर्तमान में वैश्वीकरण के प्रभाव में दक्षिण–दक्षिण संवाद की प्रकृति भी बदल रही है। इसके कारण दक्षिण–दक्षिण सहयोग के नए रूप उभर रहे हैं। विकसित दक्षिण देशों – ब्राजील, भारत, और दक्षिण अफ्रीका ने 2003 में IBSA की स्थापना की है, जिसमें त्रिपक्षीय सहयोग के साथ–साथ दक्षिण–दक्षिण सहयोग के उद्देश्यों को सम्मिलित किया गया है। पिछले एक दशक में दक्षिण–दक्षिण व्यापार ने उत्तर–दक्षिण व्यापार की तुलना में अधिक तेजी से विस्तार किया है। दक्षिण–दक्षिण निवेश ने भी अभूतपूर्व गतिशीलता दिखाई है। दक्षिण के निवेशकों के पास प्रायः महत्वपूर्ण क्षेत्रीय जानकारी होती है, उपयुक्त तकनीकों का उपयोग करते हैं और एक कठिन राजनीतिक वातावरण में व्यावसायिक जोखिम लेने के लिए अधिक इच्छुक साबित होते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. निम्न में से कौन कारक उत्तर–दक्षिण संवाद से दक्षिण–दक्षिण संवाद को अलग करते हैं?
   (क) साझेदार देशों के बीच समानता
   (ख) विचारों के विविधीकरण पर बल
   (ग) राष्ट्रों की विविधता, सांस्कृतिक पहचान और संरक्षण
   (घ) उपरोक्त सभी
8. दक्षिण आयोग की स्थापना कब की गई?
   (क) सन् 1982 (ख) सन् 1985
   (ग) सन् 1987 (घ) सन् 1989

4.6 वैश्वीकरण

वर्तमान में हम एक "वैश्विक युग" में रह रहे हैं। वैश्वीकरण स्पष्ट रूप से मानव इतिहास का एक बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन है। यह कई क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। वैश्वीकरण एक प्रक्रिया है जो राजनीतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों के संयोजन से संचालित होती है। वैश्वीकरण का उद्देश्य अंतरमहाद्वीपीय आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करना है। यह यह

टिप्पणी

विश्वव्यापी एकीकरण लोगों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर संचार, यात्रा और निवेश करने की अनुमति देता है, और कंपनियों को व्यापक रूप से उत्पादन करने, पूंजी और मानव एवं भौतिक संसाधनों को कुशलता पूर्वक अधिग्रहित करने, उन्नत प्रौद्योगिकी साझा करने में मदद करता है। हालांकि वैश्वीकरण से कई लाभ हैं, किंतु कुछ को आर्थिक आघात भी हुआ है, कुछ संस्कृतियों को नुकसान पहुंचा है, और स्थानीय वातावरण को भी हानि हुई है।

जिन कारकों को वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रेरक माना जाता है, वे हैं सूचना तकनीकी की प्रगति और परिवहन प्रणालियों में तीव्र विस्तार, शीत युद्ध की समाप्ति के साथ साम्यवादी विचारधारा का पतन, और व्यापार, यात्रा और सूचना प्रसार के लिए कई लोगों का अंतर्निहित आग्रह। लोकतंत्र और मुक्त बाजारों के प्रसार ने भी वैश्वीकरण में महत्वूर्ण भूमिका निभाई है।

वैश्वीकरण का उपयोग आमतौर पर दुनिया भर में संचार और संपर्क प्रौद्योगिकियों के प्रसार का वर्णन करने के लिए एक आसान के रूप में किया जाता है। अधिकतर, वैश्वीकरण शब्द का उपयोग आईएमएफ, विश्व बैंक और अन्य आर्थिक संस्थानों के प्रयासों के संबंध में भी किया जाता है ताकि वस्तुओं और सेवाओं के लिए एक निशुल्क वैश्विक बाजार तैयार किया जा सके। इसलिए, शब्द "वैश्वीकरण" का उपयोग अक्सर आर्थिक वैश्वीकरण, अर्थात, अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में व्यापार, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, पूंजी प्रवाह, प्रवास और प्रौद्योगिकी के प्रसार के माध्यम से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण के लिए किया जाता है। हालांकि, कभी–कभी "वैश्वीकरण" शब्द का उपयोग सांस्कृतिक वैश्वीकरण को संदर्भित करने के लिए भी किया जाता है, क्योंकि कई लोग मानते हैं कि वैश्वीकरण पश्चिमी संस्कृति के दुनिया भर में नए मीडियाः फिल्म, रेडियो, टेलीविजन के माध्यम से संचालित होती है। अंतरराष्ट्रीय परिवहन और दूरसंचार का विकास एक और प्रेरक शक्ति है जो वैश्वीकरण की प्रक्रिया को गति देती है।

वैश्वीकरण का अर्थ

वैश्वीकरण से हमारा तात्पर्य समाजों के बीच परस्पर संपर्क बढ़ाने की प्रक्रिया से है, जो दुनिया के एक हिस्से में होने वाली घटनाओं से अधिक से अधिक लोगों और समाजों पर प्रभाव डालती है। एक वैश्वीकृत दुनिया वह है जिसमें आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यक्रम अधिक से अधिक परस्पर जुड़े होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक समाज अन्य समाजों की घटनाओं से अधिक से अधिक गहराई से प्रभावित होता है। इन घटनाओं को आसानी से तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक।

वैश्वीकरण की विभिन्न परिभाषायें दी गयी हैं जो निम्नलिखित हैं–

- वैश्वीकरण दुनिया भर में सामाजिक संबंधों की गहनता जो अलग–अलग इलाकों को इस तरह से जोड़ती है कि कई मील की दूरी पर होने वाली घटनाओं से स्थानीय घटनाएं आकार लेती हैं।
- यह भौगोलिक रूप से या राष्ट्रीय रूप से अलग किए गए लोगों की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का एकीकरण है।

टिप्पणी

- वैश्वीकरण का अर्थ अंतरराष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण की ओर तीव्र गति; राजनीतिक मूल्यों, प्रक्रियाओं और सिद्धांतों पर आम सहमति; और सूचना और संचार प्रौद्योगिकी में क्रांति से है।
- वैश्वीकरण एक परिवर्तन योग्य प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को "खुलेपन" की एक अंतरराष्ट्रीय नीति द्वारा संस्थागत और सहायता प्रदान की जा रही है और व्यापार और पूंजी आंदोलनों पर अंतरराष्ट्रीय समझौतों द्वारा लागू किया जाता है। इसलिए, वैश्वीकरण सरकारों को उनके राज्यों के प्रबंधन में पारंपरिक भूमिका को कम करता है ।
- वैश्वीकरण अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में देशों की बढ़ती आर्थिक निर्भरता की प्रक्रिया है। यह वस्तुओं और सेवाओं में सीमा पार व्यापार की मात्रा और विविधता को बढ़ाने, उच्च अंतरराष्ट्रीय वित्तीय प्रवाह, विभिन्न देशों में फर्मों के बीच प्रौद्योगिकी और संस्थागत संपर्कों का अधिक तेजी से प्रसार के माध्यम से होता है।
- व्यापक अर्थ में वैश्वीकरण केवल एक आर्थिक प्रक्रिया नहीं है अपितु यह तो विश्व के सभी भागों में रहने वाले लोगों के बीच आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों के विकास और अंतर्क्रिया की प्रक्रिया हैं।

इस प्रकार कुछ विद्वान वैश्वीकरण को केवल आर्थिक संदर्भ में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार वैश्वीकरण व्यापार के उदारीकरण, पूंजी निवेश और राष्ट्रीय बाजारों को अंतरराष्ट्रीय बाजारों में परिवर्तित करना है जबकि कुछ विद्वानों के लिए वैश्वीकरण का अर्थ एक बहुमुखी घटना से है जिसका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों पर पड़ रहा है।

वैश्वीकरण के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु–

वैश्वीकरण के कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- यह वैश्विक बातचीत और प्रक्रियाओं की तीव्रता, परिवहन और संचार की विश्वव्यापी प्रणालियों के विकास के साथ संबंधित है।
- वैश्वीकरण एकल विश्व संस्कृति के विकास की ओर एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।
- राजनीतिक रूप से, वैश्वीकरण ने संयुक्त राष्ट्र (यूएन) और विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) जैसे अंतर–सरकारी संगठनों पर ध्यान स्थानांतरित कर दिया है।
- सामाजिक रूप से, यह विभिन्न देशों के लोगों के बीच अधिक से अधिक संपर्क की ओर केंद्रित है।
- सांस्कृतिक रूप से, वैश्वीकरण संस्कृतियों के बीच विचारों, मूल्यों और कलात्मक अभिव्यक्ति के आदान–प्रदान का प्रतिनिधित्व करता है।
- आर्थिक रूप से वैश्वीकरण पूरी दुनिया को एक एकल बाजार के रूप में परिवर्तित करने पर बल देता है।

- वैश्विक अर्थव्यवस्था को खुले, उदार, मुक्त बाजार और कम नियामक बाधाओं के साथ मुक्त व्यापार के रूप में विशेषीकृत किया जाता है।

टिप्पणी

वैश्वीकरण के विभिन्न पहलुओं जैसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक का मानव जीवन और अर्थव्यवस्थाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। ये प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार का है। अतः इसके समर्थक वैश्वीकरण के पक्ष में तर्क देते हैं जबकि आलोचकों द्वारा वैश्वीकरण के नकारात्मक पहलुओं को उजागर किया जाता है।

वैश्वीकरण के पक्ष में तर्क–

- वैश्वीकरण के समर्थकों का कहना है कि वैश्वीकरण मुक्त व्यापार का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे वैश्विक आर्थिक विकास को बढ़ावा मिला है एवं नौकरियों के अवसर में भी इजाफा हुआ है, इसने कंपनियों को अधिक प्रतिस्पर्धी बनाया है, और उपभोक्ताओं के लिए कीमतें कम करता है। उनके अनुसार वैश्वीकरण ने प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देकर उपभोक्ताओं के लिये कम कीमतों पर वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध कराने का कार्य किया है।
- वैश्वीकरण के समर्थकों का मानना है कि यह विकासशील देशों को विनिर्माण, विविधीकरण, आर्थिक विस्तार और जीवन स्तर में सुधार के माध्यम से औद्योगिक राष्ट्रों तक पहुंच को संभव बनाता है।
- यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के आधार के रूप में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्रों के बीच के अंतर को कम कर दिया है। हालांकि इस विचार का कुछ लोग स्वागत करते है तो कुछ लोग विरोध करते हैं। जो विद्वान वैश्वीकरण का स्वागत करते है उनका कहना है कि यह प्रक्रिया विश्व, मानव जाति की सुरक्षा और आर्थिक समृद्धि को प्रोत्साहित करती है।
- यह विदेशी पूंजी और प्रौद्योगिकी के प्रवाह के माध्यम से गरीब देशों को भी आर्थिक रूप से विकसित होने के अवसर प्रदान करता है और समृद्धि के प्रसार द्वारा ऐसी परिस्थितियां पैदा करता है जिसमें लोकतंत्र और मानवाधिकारों के लिए सम्मान पनप सकता है। हालांकि यह एक लक्ष्य है जिसे अधिकांश देशों में हासिल नहीं किया गया है।
- वैश्वीकरण सकारात्मक रूप से, सभी के लिए वैज्ञानिक, चिकित्सा और अन्य नए अनुसंधानों या पद्धतियों के फायदे को सभी राष्ट्रों तक उपलब्ध कराता है। समर्थकों का तर्क है की विकासशील देशों के साथ प्रौद्योगिकी साझा करने से उन्हें प्रगति में मदद मिलेगी। कुछ राष्ट्र–राज्यों में अन्यायपूर्ण कानूनों को अंतरराष्ट्रीय कानून द्वारा चुनौती दी गई है। उदाहरण के लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए यूरोपीय कन्वेंशन ने राज्य की संप्रभुता को अभी कम कर दिया है ताकि नागरिकों को अपनी सरकारों के खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने में सक्षम बनाया जा सके।
- इसके पक्ष में तर्क देने वालों का मानना है कि वैश्वीकरण ने दुनिया भर में सांस्कृतिक अंतर्संबंधता में वृद्धि की है। वैश्वीकरण से स्थानीय संस्कृति को जीने

टिप्पणी

के अन्य तरीकों से परिचित कराया है और विकल्प प्रदान किया है। स्थानीय संस्कृतियां मानव अधिकारों, लोकतंत्र, बाजार अर्थव्यवस्था, साथ ही उत्पादन के नए तरीकों, उपभोग के लिए नए उत्पादों और अवकाश की आदतों जैसे विचारों के संपर्क में आयी हैं। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक आदान–प्रदान में वृद्धि से प्रत्येक देश अन्य देशों की संस्कृतियों के बारे में अधिक सीख रहे हैं। मुख्यतः जन माध्यमों, प्रवासन, पर्यटन और वैश्विक आर्थिक और राजनीतिक संस्थानों में लोगों के प्रवाह के कारण दुनिया के विभिन्न हिस्सों में समान जीवन पद्धति का विकास हो रहा है।

- अधिकांश लोग तेजी से यात्रा, जन संचार और इंटरनेट के माध्यम से सूचना के त्वरित प्रसार को वैश्वीकरण के लाभों के रूप में देखते हैं। अब उन कंपनियों और उपभोक्ताओं के लिए दुनिया भर में बाजार है, जिनकी पहुंच विभिन्न देशों के उत्पादों तक है। चूंकि हम वित्तीय हितों को साझा करते हैं, इसलिए निगम और सरकारें एक–दूसरे के पारिस्थितिक समस्याओं को सुलझाने की कोशिश कर रही हैं।
- वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक रूप से हम एक–दूसरे के प्रति अधिक खुले और सहिष्णु हो गए हैं और दुनिया के दूसरे हिस्से में रहने वाले लोगों को पराया नहीं माना जाता है। साथ ही एक वैश्विक नागरिक समाज का भी उदय हुआ है। आज गतिविधि के लगभग हर क्षेत्र में, कई सामाजिक और वैश्विक संगठन शामिल हैं, जिनमें ग्रीनपीस, महिला आंदोलन, स्थानीय समुदायों के सशक्तिकरण और स्वदेशी लोगों के लिए सामाजिक आंदोलन शामिल हैं। वे अधिक प्रासंगिक होते जा रहे हैं, जो लोगों को पारस्परिक संबंधों में जोड़ते है। अंतरराष्ट्रीय सरकारी संगठनों का व्यापक नेटवर्क (INGOs), वर्तमान में वैश्विक शासन के लिए शर्तें प्रदान करता है।
- वैश्वीकरण सिद्धांत के प्रणेताओं में से एक, रोनाल्ड रॉबर्टसन, ने वैश्वीकरण को दुनिया के 'संकुचन' के रूप में वर्णित किया है और दुनिया के संकुचन का अर्थ है दुनिया उपग्रह टीवी के द्वारा हमारे रहने वाले कमरों तक आ गयी है, और अंतरमहाद्वीपीय जन पर्यटन द्वारा, और ई–मेल अनुबंधों और मोबाइल फोन द्वारा आसानी से सभी के लिए सुलभ है।

वैश्वीकरण के विपक्ष में तर्क

- वैश्वीकरण के आलोचकों का मत है की इसके सकारात्मक परिणामों की तुलना में नकारात्मक परिणाम अधिक है। वैश्वीकरण के नकारात्मक परिणाम में छोटे उद्योगों की अक्षमता के कारण बेरोज़गारी बढ़ रही है, क्योंकि अंतरराष्ट्रीय औद्योगिक फर्मों के साथ प्रतिस्पर्धा में, पारंपरिक सहायक और कारीगरों के लिए आजीविका का नुकसान और आजीविका के लिए अपने मूल वातावरण से लोगों का पलायन की प्रवृति में वृद्धि हुई है।
- वैश्वीकरण पूरे विश्व को एक एकल बाजार के रूप में परिवर्तित करता है, जिसके कारण श्रम अपनी महत्ता खो रहा है और वित्तीय पूंजी की अस्थिरता और निगमों

टिप्पणी

की असुरक्षा बढ़ रही है और साथ ही असमानता भी बढ़ रही है। अमीर देशों में अकुशल श्रम के लिए रोजगार की बहुत कम संभावनाएं हैं।

- वैश्वीकरण के बारे में सामान्य शिकायत यह है कि इसने अमीर–गरीब की खाई को चौड़ा किया है और अमीर को और अमीर बना दिया है। यह प्रबंधकों, मालिकों और निवेशकों के लिए अद्‌भुत है, लेकिन श्रमिकों और प्रकृति के लिए नुकसानदायक है।
- वैश्वीकरण पूरी दुनिया को एक ही बाजार के रूप में लेता है; अंतरराष्ट्रीय फर्मों द्वारा विदेशी पूंजी की अचानक निकासी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं पर विनाशकारी प्रभाव डाल सकती है। आर्थिक वैश्वीकरण के कारण आर्थिक नीति पर राष्ट्र राज्यों का नियंत्रण कम हो गया है और राष्ट्रीय सरकारें अपनी शक्ति खो रही हैं। बहुराष्ट्रीय निगम, जो पहले व्यावसायिक गतिविधियों तक सीमित थे, तेजी से राष्ट्रों के राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित कर रहे हैं। कई लोगों का मानना हैं कि दुनिया पर शासन करने वाले निगमों से खतरा है क्योंकि वे वैश्वीकरण के कारण सत्ता हासिल करने प्रयास कर रहे हैं।
- वैश्वीकरण के आलोचकों का तर्क है कि इसने एक छोटे कॉर्पोरेट अभिजात वर्ग के हाथों में धन और शक्ति की एकाग्रता पैदा की है जिससे दुनिया भर में छोटे प्रतियोगियों को हानि हुई है। ऐसा माना जाता है की वैश्वीकरण मुक्त व्यापार के क्षेत्र में सभी बाधाओं को समाप्त कर देगा लेकिन अभी भी इसमें कई बाधाएं मौजूद हैं।
- बहुराष्ट्रीय निगमों पर सामाजिक अन्याय, और अनुचित काम करने की स्थिति का आरोप लगाया जाता है। साथ ही पर्यावरण के लिए चिंता की कमी, प्राकृतिक संसाधनों का कुप्रबंधन और पारिस्थितिक क्षति जैसे दुष्प्रभावों की भी चर्चा की जाती है। वैश्वीकरण का नकारात्मक परिणाम पर्यावरणीय गिरावट है। बहुत अधिक पर्यावरणीय क्षति ने वैश्विक आयामों को ग्रहण किया है। अम्लीय वर्षा, वैश्विक तापमान में वृद्धि और वनों की कटाई ने पृथ्वी के पूरे पारिस्थितिकी तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है और इसे केवल वैश्विक स्तर पर हल किया जा सकता है।
- वैश्वीकरण का एक स्पष्ट परिणाम यह है कि एक देश की आर्थिक मंदी अपने व्यापार भागीदारों के माध्यम से एक डोमिनोज़ प्रभाव पैदा कर सकती है। उदाहरण के लिए, 2008 के वित्तीय संकट का पुर्तगाल, आयरलैंड, ग्रीस और स्पेन पर गंभीर प्रभाव पड़ा। ये सभी देश यूरोपीय संघ के सदस्य थे, जिन्हें ऋण से ग्रस्त राष्ट्रों को बाहर करने के लिए कदम उठाना पड़ा।
- वैश्वीकरण, जो धर्मनिरपेक्ष और उदार संस्कृति का प्रसार करता है, देशी और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के बीच एक मुश्किल परिस्थिति को भी जन्म देता है। एक वैश्विक संस्कृति के उद्‌भव का के दावे स्थानीय मूल्य और राष्ट्र–राज्य पहचान के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं।

इस प्रकार वैश्वीकरण के अपने फायदे और नुकसान हैं। वैश्वीकरण के पक्षकारों का मत है की वैश्वीकरण ने वैश्विक दूरी को कम करने के साथ विकासशील राष्ट्रों तक

तकनीकी और पूंजी एवं प्रौद्योगिकी के प्रवाह को आसान किया है जबकि कुछ टिप्पणीकार वैश्वीकरण को नव–उपनिवेशवाद से जोड़ कर देखते हैं जिसने आर्थिक रूप से पिछड़े देशों की अर्थव्यवस्था को और पर्यावरण को अधिक क्षति पहुचायी है। हालांकि वैश्वीकरण के अपने फायदे हैं, इसलिए, वैश्वीकरण को एक तरह के साम्राज्यवाद के रूप में मानना एक गलती होगी। वैश्वीकरण उससे कहीं अधिक बड़ी और अधिक जटिल प्रक्रिया है।

टिप्पणी

वैश्वीकरण की प्रक्रिया वैश्विक आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में जुड़ाव के अर्थ में, इसे पहले की तुलना में एक अलग क्रम में लाने का कार्य करती है। संचार और विनिमय दर, इसमें शामिल नेटवर्क की जटिलता और आकार एवं व्यापार, बातचीत और जोखिम की मात्रा ने वैश्वीकरण को एक अलग शक्ति बना दिया है। यह विद्वानों और नीति निर्माताओं के लिए कई सवाल खड़े करता है। राष्ट्रीय सीमाओं से परे व्यवसायों की विस्तारित प्रवृत्ति का जोर वैश्वीकरण की मुख्य अभिव्यक्तियों में से एक है। प्रत्येक राज्य घरेलू बाजारों को विकसित करने और नए बाजारों को विकसित करके, दोनों में सुधार की विकास क्षमता हासिल करना चाहता है। वर्तमान में विद्वानों, राजनेताओं, नीति निर्णय समूहों को वैश्वीकरण के प्रति नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

समकालीन काल में राज्यों के बीच आर्थिक संबंध निम्नलिखित संस्थानों के दायरे में चल रहे हैं–

4.6.1 विश्व व्यापार संगठन

विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना 1 जनवरी 1995, उरुग्वे दौर के समझौते के अनुसमर्थन के बाद की गई थी और वर्तमान में 164 सदस्य देश शामिल हैं। विश्व व्यापार संगठन 'सामान्य प्रशुल्क और व्यापार पर समझौता (GATT)' का उत्तराधिकारी संगठन है जिसे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक स्थायी और मुक्त अंतरराष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था के निर्माण के प्रयास स्वरुप 1947 में बनाया गया था। GATT 1947 से अंतरराष्ट्रीय व्यापार को संचालित करने वाली एकमात्र बहुपक्षीय प्रणाली थी, जब तक कि 1995 में विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना नहीं हुई। इस प्रकार भले ही विश्व व्यापार संगठन (डब्लूटीओ) अपेक्षाकृत एक नया संगठन है किंतु बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली जो मूल रूप से GATT के तहत स्थापित की गई थी 70 साल से भी अधिक पुरानी है।

प्रशुल्क और व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT)

प्रशुल्क और व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT) की उत्पत्ति 1944 में ब्रेटन वुड्स, हैंपशायर सम्मेलन में हुई थी, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की आर्थिक व्यवस्था की नींव रखी थी और दो प्रमुख संस्थानों, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विश्व बैंक की स्थापना की। 1947 में जिनेवा में 23 देशों द्वारा हस्ताक्षरित GATT समझौता 1 जनवरी, 1948 को निम्नलिखित उद्देश्यों के साथ लागू हुआः आयात कोटा के उपयोग को चरणबद्ध करने और व्यापारिक व्यापार पर शुल्क कम करने के लिए। GATT 1948

से अंतरराष्ट्रीय व्यापार को संचालित करने वाला एकमात्र बहुपक्षीय साधन (एक संस्था नहीं) था, जब तक की 1995 में विश्व व्यापार संगठन की नीव नहीं रखी गयी थी।

टिप्पणी

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य

विश्व व्यापार संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

- अंतरराष्ट्रीय व्यापार के लिए नियम निर्धारित करना और लागू करना।
- निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में पारदर्शिता बढ़ाना।
- व्यापार के उदारीकरण पर बातचीत और निगरानी के लिए एक मंच प्रदान करना।
- विकासशील देशों को वैश्विक व्यापार प्रणाली से पूरी तरह से लाभान्वित करने में मदद करना।
- वैश्विक आर्थिक प्रबंधन में शामिल अन्य प्रमुख अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों के साथ सहयोग करना।

विश्व व्यापार संगठन के कार्य

विश्व व्यापार संगठन के कार्यों को निम्न रूप से समझाया गया है–

- विश्व व्यापार संगठन व्यापार समझौतों का प्रबंध करता है।
- यह व्यापार वार्ता के लिए मंच प्रदान करता है।
- राष्ट्रों के मध्य व्यापार विवादों को संभालने का कार्य करता है।
- राष्ट्रीय व्यापार नीतियों की निगरानी करने का कार्य करता है।
- विकासशील देशों के लिए तकनीकी सहायता और प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य करना।
- अन्य अंतरराष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग स्थापित करना।

कई WTO समझौते वस्तुओं, सेवाओं और कृषि व्यापार को, प्रशुल्क और गैर–शुल्क बाधाओं को दूर करने; और सरकारी प्रयासों पर नियम स्थापित करना जो सीधे व्यापार से संबंधित हैं – उदाहरण के लिए, व्यापार उपचार, व्यापार के लिए तकनीकी बाधाएं (टीबीटी), बौद्धिक संपदा अधिकार (आईपीआर), और सरकारी खरीद, इत्यादि को सम्मिलित करता है। समझौते देशों के बीच गैर–भेदभाव के सिद्धांतों पर आधारित हैं, जैसे – सबसे पसंदीदा देश (एमएफएन) का दर्जा, राष्ट्रीय दर्जा, निष्पक्ष प्रतियोगिता, और व्यापार नियमों और विनियमों की पारदर्शिता। हालांकि, कुछ अपवाद भी हैं– जैसे विकासशील देशों को तरजीह देना और विश्व व्यापार संगठन के बाहर क्षेत्रीय और द्विपक्षीय व्यापार समझौतों की अनुमति है।

विश्व व्यापार संगठन की संरचना

मंत्रिस्तरीय निकाय : शीर्ष पर मंत्रिस्तरीय सम्मेलन है, जो संगठन के सर्वोच्च निर्णय लेने वाले निकाय के रूप में कार्य करता है। यह विश्व व्यापार संगठन के सभी सदस्य से बना है और हर दो साल में एक बार इसका सम्मलेन होता है।

सामान्य परिषद : सामान्य परिषद दिन–प्रतिदिन निर्णय लेने वाली शीर्ष संस्था है। यह जिनेवा में साल में कई बार मिलता है। सामान्य परिषद में कई समितियां, कार्य समूह और कार्य दल इसके नियंत्रण में हैं।

टिप्पणी

सचिवालय : डब्ल्यूटीओ का सचिवालय, जिनेवा में है। इसमें एक महानिदेशक के नेतृत्व में 625 नियमित कर्मचारी और हैं। चूंकि निर्णय केवल सदस्यों द्वारा लिए जाते हैं, इसलिए सचिवालय के पास निर्णय लेने की शक्तियां नहीं होती हैं। इसका मुख्य कर्तव्य विभिन्न परिषदों और समितियों के लिए तकनीकी और व्यावसायिक सहायता प्रदान करना है, विकासशील देशों के लिए तकनीकी सहायता प्रदान करना, विश्व व्यापार में विकास की निगरानी और विश्लेषण करना, जनता और मीडिया को जानकारी प्रदान करना और मंत्री सम्मेलनों का आयोजन करना।

विश्व व्यापार संगठन की भूमिका

विश्व व्यापार संगठन उन महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय संगठनों में से एक है, जो विश्व की आर्थिक नीति का निर्माण और समन्वय करते हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार, वैश्विक अर्थशास्त्र, और वैश्वीकरण के कारण अंतरराष्ट्रीय व्यापार में उत्पन्न होने वाले राजनीतिक और कानूनी मुद्दे में यह एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यह देशों के बीच व्यापार संबंधी बाधाओं को कम करने और नए बाजार खोलने के लिए दुनिया की सबसे शक्तिशाली संस्था के रूप में उभरा है। समय के साथ डब्ल्यूटीओ प्रणाली ने व्यापार बाधाओं में महत्वपूर्ण कमी के साथ, व्यापार विस्तार और आर्थिक विकास में सहायता दी है, और व्यापार टकरावों का प्रबंधन करने में मदद की है। हालांकि उसी समय, विश्व व्यापार संगठन ने गंभीर चुनौतियों का सामना किया है, कुछ दीर्घकालिक और कुछ हाल ही में उभर रहे हैं। एक बुनियादी चिंता यह है कि विश्व व्यापार संगठन आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था के अनुकूल होने में असमर्थता और 1994 से प्रमुख व्यापार उदारीकरण के सफल दौर के कमियों के कारण अपनी प्रासंगिकता खो सकता है। इन और अन्य चिंताओं ने कई सदस्य देशों को इसे सुरक्षित रखने और सुधारने के प्रयास हेतु विश्व व्यापार संगठन में सुधारों का प्रस्ताव देने के लिए प्रेरित किया है।

4.6.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में दो विश्व युद्धों के कारण यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका को भारी आर्थिक नुकसान का सामना करना पड़ा। अतः 1944 में, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की आर्थिक व्यवस्था के लिए योजना तैयार करने के लिए 44 देशों के प्रतिनिधियों ने ब्रेटनवुड्स, न्यू हैंपशायर में मुलाकात की। उनका लक्ष्य विनाशकारी नीतियों की पुनरावृत्ति से बचना था जो एक और संघर्ष को जन्म दे सके। इसलिए उन्होंने अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना पर सहमति जताई।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

- IMF का प्राथमिक उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की स्थिरता सुनिश्चित करना है।

टिप्पणी

- वैश्विक मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए काम करना।
- वित्तीय स्थिरता को सुरक्षित करना
- अंतरराष्ट्रीय व्यापार को सुविधाजनक बनाने के लिए, उच्च रोजगार और सतत आर्थिक विकास को बढ़ावा देना और दुनिया भर में गरीबी को कम करना।
- विदेशी मुद्रा प्रतिबंधों को हटाकर, सदस्य देशों के बीच बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली को सुविधाजनक बनाने और मौद्रिक क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना था।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्य

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के निम्नलिखित कार्य हैं–

- आईएमएफ का मौलिक कार्य अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की स्थिरता सुनिश्चित करना है। यह तीन तरीकों से ऐसा करता है: वैश्विक अर्थव्यवस्था और सदस्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर नज़र रखना; भुगतान कठिनाइयों के संतुलन वाले देशों को ऋण देना; और सदस्यों को व्यावहारिक मदद देना।
- आईएमएफ अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की देखरेख करता है और अपने 189 सदस्य देशों की आर्थिक और वित्तीय नीतियों की निगरानी करता है। इस प्रक्रिया के भाग के रूप में, जो वैश्विक स्तर पर और व्यक्तिगत देशों के स्तर पर आईएमएफ स्थिरता के लिए संभावित जोखिमों पर प्रकाश डालता है और आवश्यक नीति समायोजन पर सलाह देता है।
- आईएमएफ़ उन सदस्य देशों को ऋण प्रदान करता है जो अपने अंतरराष्ट्रीय भंडार के पुनर्निर्माण, अपनी मुद्राओं को स्थिर करने, आयात के लिए भुगतान जारी रखने और अंतर्निहित आर्थिक समस्याओं के लिए शर्तों को बहाल करने में मदद करने के लिए भुगतान समस्याओं के वास्तविक या संभावित संतुलन का सामना कर रहे हैं।
- आईएमएफ अपनी आर्थिक नीतियों और संस्थानों को आधुनिक बनाने और अपने लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए दुनिया भर की सरकारों के साथ काम करता है। इससे देशों को अपनी अर्थव्यवस्था को मजबूत करने, विकास में सुधार करने और रोजगार पैदा करने में मदद मिलती है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष संगठन की संरचना

गवर्नर बोर्ड : आईएमएफ का नेतृत्व एक गवर्नर बोर्ड करता है, जिनमें से संगठन के लगभग 189 सदस्य राज्यों में से प्रत्येक देश का एक प्रतिनिधि होता है। गवर्नर, जो आमतौर पर अपने देशों के वित्त मंत्री या केंद्रीय बैंक निदेशक होते हैं, आईएमएफ मुद्दों पर वार्षिक बैठकों में भाग लेते हैं।

कार्यकारी बोर्ड : फंड का दिन–प्रतिदिन का संचालन एक कार्यकारी बोर्ड द्वारा किया जाता है, जिसमें 24 कार्यकारी निदेशक होते हैं जो सप्ताह में कम से कम तीन बार मिलते हैं। इसमें से आठ निदेशक व्यक्तिगत देशों (चीन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, रूस, सऊदी अरब, यूनाइटेड किंगडम और संयुक्त राज्य अमेरिका) का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अन्य 16 विश्व क्षेत्रों द्वारा समूहीकृत निधि के शेष सदस्यों का प्रतिनिधित्व

करते हैं। क्योंकि यह आम सहमति से अधिकांश निर्णय लेता है, कार्यकारी बोर्ड शायद ही कभी औपचारिक मतदान कराता है।

प्रबंध निदेशक : बोर्ड की अध्यक्षता एक प्रबंध निदेशक द्वारा की जाती है, जो बोर्ड द्वारा पांच साल के कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है और 140 से अधिक देशों के लगभग 2,700 कर्मचारियों के फंड के कर्मचारियों की देखरेख करता है। प्रबंध निदेशक आमतौर पर एक यूरोपीय होता है और परंपरा के मुताबिक एक अमेरिकी नहीं होता है।

टिप्पणी

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष विनिमय दर की स्थिरता के अपने प्रारंभिक मिशन के जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए, कम से कम दो दशकों के लिए अत्यधिक सफल रहा, और निरंतर आर्थिक विकास में योगदान करने में मदद करता रहा है, जो कि औद्योगिक रूप से दुनिया में 1945 के बाद की अवधि में अनुभव किया गया था। किन्तु 1980 के दशक से यह तेजी से विवादास्पद संस्थान बन गया। ऐसा इसलिए था क्योंकि इसने 'संरचनात्मक समायोजन' के लिए विकासशील देशों को ऋणों के प्रावधान से जोड़ा जिसने मुक्त बाजारों और मुक्त व्यापार में असफल विश्वास को अभिव्यक्त किया। हालांकि, आईएमएफ को अक्सर गंभीर आलोचना का शिकार होना पड़ा है। कट्टरपंथी और पूंजीवाद विरोधी आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों ने आईएमएफ और वैश्विक आर्थिक शासन को आम तौर पर नव उदारवादी भूमंडलीकरण की राजनीतिक शाखा के रूप में देखा। उनके अनुसार अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष गरीब और कमजोर देशों को एक अमेरिकी मॉडल को स्वीकार करने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य को बेहतर तरीके से पूरा करता है। अतः अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष में भी सुधार के प्रस्ताव रखे जाते रहे हैं।

4.6.3 विश्व बैंक

विश्व बैंक जिसे 'इंटरनेशनल बैंक फॉर रिकंस्ट्रक्शन एंड डेवलपमेंट' भी कहा गया एक तरह से, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक साझेदार संगठन है। दोनों संगठन 1944 के ब्रेटन वुड्स समझौते द्वारा बनाए गए थे। इसमें बहुत ही समान मतदान प्रणाली हैं जो वैश्विक अर्थव्यवस्था में देशों की आर्थिक ताकत पर आधारित हैं। विशेषकर 1980–90 के दशक ने दोनों ही संस्थाओं ने नव–उदारवादी विचारधारा के लिए अपनी अभिमुखता को प्रदर्शित किया। फिर भी, जबकि आईएमएफ़ और गैट / डब्लू टी ओ मुख्य रूप से अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के लिए एक नियामक ढांचा स्थापित करने के लिए चिंतित हैं, विश्व बैंक का अनिवार्य रूप से पुनर्वितरण का कार्य है। यह दो एजेंसियों के द्वारा कार्य करता है, पहली, अंतरराष्ट्रीय विकास संस्थान (IDA) जिसकी स्थापना 1960 में हुई और दूसरी अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) जिसकी स्थापना 1956 में हुई।

विश्व बैंक की संरचना

विश्व बैंक की संरचना अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की भांति ही है।

बोर्ड ऑफ गवर्नर्स : विश्व बैंक एक सहकारी संस्था की तरह है, जो 189 सदस्य देशों से बना है। इन सदस्य देशों, या शेयरधारकों का एक 'बोर्ड ऑफ गवर्नर्स'

टिप्पणी

द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है, जो विश्व बैंक में अंतिम नीति निर्माता हैं। आम तौर पर, गवर्नर्स सदस्य देशों के वित्त मंत्री या विकास मंत्री होते हैं। वे विश्व बैंक समूह के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की वार्षिक बैठक में साल में एक बार मिलते हैं।

कार्यकारी निदेशकः गवर्नर्स 25 कार्यकारी निदेशकों को विशिष्ट कर्तव्य सौंपते हैं, जो बैंक में साइट पर काम करते हैं। पांच सबसे बड़े शेयरधारक एक कार्यकारी निदेशक की नियुक्ति करते हैं, जबकि अन्य सदस्य देशों को निर्वाचित कार्यकारी निदेशकों द्वारा दर्शाया जाता है। कार्यकारी निदेशक विश्व बैंक के निदेशक मंडल का निर्माण करते हैं। वे आम तौर पर बैंक के व्यवसाय की देखरेख के लिए सप्ताह में कम से कम दो बार मिलते हैं, जिसमें ऋण और गारंटी की मंजूरी, नई नीतियां, प्रशासनिक बजट, देशों की सहायता रणनीतियों और उधार लेने और वित्तीय निर्णय शामिल हैं।

अध्यक्ष : विश्व बैंक समूह का अध्यक्ष निदेशक मंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता हैं और बैंक के समग्र प्रबंधन के लिए जिम्मेदार होता है। अध्यक्ष का चयन कार्यकारी निदेशक मंडल द्वारा पांच वर्ष के लिए किया जाता है। विश्व बैंक अध्यक्ष, प्रबंधन और वरिष्ठ कर्मचारियों, और वैश्विक प्रयासों, क्रॉस–कटिंग समाधान क्षेत्रों, क्षेत्रों और कार्यों के प्रभारी उपाध्यक्षों के नेतृत्व और निर्देशन में दिन–प्रतिदिन काम करता है।

विश्व बैंक की भूमिका

1944 में स्थापित, इंटरनेशनल बैंक फॉर रिकंस्ट्रक्शन एंड डेवलपमेंट जिसे जल्द ही विश्व बैंक कहा जाता है, ब्रेटन वुड्स समझौते का परिणाम है। मूल रूप से, विश्व बैंक के ऋणों द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध से तबाह हुए देशों के पुनर्निर्माण में सहायता की गयी। इसने समय के साथ, बुनियादी ढांचे जैसे बांधों, विद्युत ग्रिडों, सिंचाई प्रणालियों और सड़कों पर भारी जोर देने के साथ ही, विकास से पुनर्निर्माण पर ध्यान केंद्रित किया। 1956 में अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना के साथ, यह संस्थान विकासशील देशों में निजी कंपनियों और वित्तीय संस्थानों को उधार देने में सक्षम हो गया। और 1960 में इंटरनेशनल डेवलपमेंट एसोसिएशन की स्थापना ने सबसे गरीब देशों की सहायता पर अधिक जोर दिया। गरीबी उन्मूलन की दिशा में एक स्थिर बदलाव का हिस्सा बैंक समूह का प्राथमिक लक्ष्य बन गया है ।

पिछले 70 वर्षों में विश्व अर्थव्यवस्था में बड़े बदलाव हुए हैं। उस समय, विश्व बैंक समूह, दुनिया की सबसे बड़ी विकास संस्था के रूप में 100 से अधिक विकासशील देशों और संक्रमणकालीन देशों को से समायोजित करने के लिए ऋण और अनुरूप ज्ञान और सलाह देकर इन परिवर्तनों से समायोजित करने में मदद की है। बैंक समूह देश की सरकारों, निजी क्षेत्र, नागरिक समाज संगठनों, क्षेत्रीय विकास बैंकों, थिंक टैंक और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के साथ जलवायु परिवर्तन, संघर्ष, और खाद्य सुरक्षा से लेकर शिक्षा, कृषि, वित्त और व्यापार जैसे मुद्दों पर काम करता है। ये सभी प्रयास बैंक समूह के 2030 तक चरम गरीबी को समाप्त करने के लक्ष्यों का समर्थन करते हैं और सभी देशों में सबसे गरीब 40 प्रतिशत लोगों की साझा समृद्धि को बढ़ाते हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. वैश्वीकरण सिद्धांत के प्रणेताओं में से किसने वैश्वीकरण को दुनिया के 'संकुचन' के रूप में वर्णित किया है

   (क) हर्मन ई. डेली (ख) थामस एल फ्राइडमैन

   (ग) रोनाल्ड रॉबर्टसन (घ) नोअम चोमस्की

10. अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना कब हुई थी?

    (क) सन् 1956 (ख) सन् 1960

    (ग) सन् 1976 (घ) सन् 1980

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ख)
3. (घ)
4. (ख)
5. (क)
6. (ग)
7. (घ)
8. (ग)
9. (ग)
10. (क)

4.8 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद नवोदित राष्ट्रों के उदय के साथ विकसित और विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानता और भेदभावपूर्ण वैश्विक आर्थिक व्यवस्था की नई चुनौती सामने आने लगी।

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का लक्ष्य विकसित और विकासशील देशों के भेदभाव–पूर्ण आर्थिक संबंधों का पुनर्निर्धारण था जिससे एक समान और न्याययपूर्ण वैश्विक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हो सके जहां कम विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक हितों की रक्षा हो सके।

उत्तर–दक्षिण संवाद उत्तर के देशों अर्थात विकसित राष्ट्रों और विकासशील राष्ट्रों के मध्य टकरावों को कम करने और उनके मध्य आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग में वृद्धि करने का प्रयास था।

जब उत्तर की ओर से दक्षिण के देशों के आर्थिक हितों पर ध्यान नहीं दिया गया तो दक्षिण–दक्षिण संवाद विकासशील राष्ट्रों के आत्मनिर्भर बनने और उनकी उत्तर के विकसित राष्ट्रों पर आर्थिक एवं तकनीकी निर्भरता को कम करने का प्रयास है।

टिप्पणी

शीत–युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के पतन के पश्चात एक नई विश्व व्यवस्था का नारा दिया गया जिसमे समानता और सहयोग की बात कही गयी। इस विश्व व्यवस्था में अमेरिका एक प्रभुत्वशाली देश के रूप में उभरा। साथ ही कई और अन्य क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ जिससे विश्व व्यवस्था एक–ध्रुवीय के साथ बहु–ध्रुवीय विश्व व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई है।

शीत युद्ध की समाप्ति और नई विश्व व्यवस्था की अवधारणा के उदय के साथ ही वैश्वीकरण की प्रक्रिया विश्व इतिहास के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने संपूर्ण विश्व को आर्थिक, राजनितिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से एकीकृत करने का कार्य किया। हालांकि इसके फायदे और नुकसान दोनों ही परलक्षित हुए हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, और गैट /अंतरराष्ट्रीय व्यापार संगठन प्रमुख वैश्विक आर्थिक संस्थान रहे हैं जिन्होंने वैश्विक आर्थिक प्रणाली के संचालन में महत्वूर्ण भूमिका अदा की है। यद्यपि इनकी भूमिका पर आलोचकों द्वारा हमेशा प्रश्नचिन्ह लगाया गया है और विकासशील देशों द्वारा भी समय–समय पर इन संस्थाओं में सुधार के लिए प्रस्ताव रखे गए हैं।

4.9 मुख्य शब्दावली

- **प्रवाह** : वैश्विक बाधाओं में बढ़ती सरंध्रता की स्थिति के कारण लोगों, चीजों, सूचनाओं का संचलन।
- **संप्रभु समानता** : वह सिद्धांत है, जो राष्ट्रों के मध्य अन्य भिन्नताओं की परवाह किए बिना, राज्यों के अधिकारों, हकों और सुरक्षा को समान समझता हैं।
- **बाजार** : मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा आकारित वाणिज्यिक विनिमय की एक प्रणाली, जो मूल्य तंत्र द्वारा विनियमित होती है।
- **स्व–सहायता** : सुरक्षा और उत्तरजीविता सुनिश्चित करने के लिए बाहरी सहायता के बजाय अपनी क्षमताओं और संसाधनों पर निर्भरता।
- **असमान विकास** : एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत उद्योगों, आर्थिक क्षेत्रों और देशों के लिए ऐसी प्रवृत्ति जो लाभ, प्रतिस्पर्धा और आर्थिक शोषण द्वारा उत्पन्न दबावों के कारण बहुत अलग अलग स्तर पर राष्ट्रों के विकास को प्रदर्शित करती है।

4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का क्या उद्देश्य था?
2. ब्रेटन वुड्स संस्थाएं कौन –कौन सी हैं ?

3. उत्तर –दक्षिण संवाद का क्या तात्पर्य है ?
4. दक्षिण–दक्षिण संवाद से आप क्या समझते हैं?
5. नई विश्व व्यवस्था के कुछ मुख्य बिंदुओं का संक्षेप में उल्लेख करें?
6. वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं?
7. अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का प्राथमिक उद्देश्य क्या है?
8. विश्व बैंक की भूमिका को संक्षेप में समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था पर एक निबंध लिखिए ?
2. उत्तर – दक्षिण संवाद की विस्तृत व्याख्या कीजिये ?
3. दक्षिण–दक्षिण संवाद से क्या समझते हैं? इसके प्रयासों का विश्लेषण कीजिये।
4. वैश्वीकरण की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिये ?
5. उन प्रमुख वैश्विक आर्थिक संस्थानों का वर्णन कीजिये जिन्होंने वैश्विक आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया है?

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

- Heywood, Andrew (2014), Global Politics, UK: Palgrave Macmillan.
- Baylis, John et al. (2008) The Globalization of World Politics, Oxford University Press.
- Khanna V.N. (2014) Antarrashtriy Sambandh, Noida: Vikas Publishing House.
- Basu, Rumaki (2019), Antarrashtriy Rajneeti, Avdharnayen tatha Mudde, Delhi: Sage Publication.
- Chatterjee, Aneek (2010), International Relations Today: Concepts and Application, Delhi: Pearson.

इकाई 5 भारत की विदेश नीति एवं समकालीन मुद्दे

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत की विदेश नीति
  5.2.1 संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंध
  5.2.2 चीन के साथ संबंध
  5.2.3 रूस के साथ संबंध
5.3 समकालीन मुद्दे
  5.3.1 मानवाधिकार
  5.3.2 पर्यावरण
  5.3.3 आतंकवाद
  5.3.4 लैंगिक मुद्दे
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य संबंधों का संचालन विदेश नीति के माध्यम से किया जाता है। एक देश की विदेश नीति के माध्यम से न केवल अन्य देशों के साथ संबंधों के माध्यम से अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राज्यों द्वारा निर्धारित रणनीतियों से है बल्कि उसके राष्ट्रीय हित को आगे बढ़ाने के लिए विकसित की गयी सभी नीतियों से भी है। एक देश का राष्ट्रीय हित उसके प्राथमिक लक्ष्य और महत्वाकांक्षाएं (आर्थिक, सैनिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) है। इन राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए विदेश नीति लागू की जाती है। विदेश नीति के सामान्य उद्देश्य एक राज्य की गतिविधियों और संबंधों को अन्य राज्यों के साथ बातचीत में मार्गदर्शन करते हैं। किसी राष्ट्र की विदेश नीति उस राष्ट्र के घरेलू विचारों, अन्य राज्यों के साथ व्यवहार, भू–राजनीतिक स्थिति और सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक स्थिति से प्रभावित होती है। भारतीय विदेश नीति भी इसका अपवाद नहीं है। यह सदियों पुरानी परंपरा, समृद्ध विरासत के साथ–साथ तुलनात्मक रूप से वर्तमान के सामाजिक–राजनीतिक और आर्थिक अनुभवों पर आधारित है।

शीत युद्ध के बाद की विश्व व्यवस्था के मानव अधिकारों, लोकतंत्र और आर्थिक स्वतंत्रता के श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों के आधार पर भी अनुमानित किया गया है। किंतु साथ ही कई अन्य मुद्दें भी हैं जो अंतरराष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया है। एक जटिल और बदलते अंतरराष्ट्रीय क्रम में, आतंकवाद पर्यावरणीय और लैंगिक समानता जैसे मुद्दों को भी महत्वपूर्ण माना जा रहा है, जिनका सावधानीपूर्वक विश्लेषण आवश्यक है। वास्तव में, इन मुद्दों के बिना अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन अधूरा है।

टिप्पणी

इस इकाई में हम भारत की विदेश नीति, भारत के संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, और रूस के साथ संबंध एवं समकालीन वैश्विक मुद्दों जैसे, मानवाधिकार, पर्यावरण, आतंकवाद एवं लैंगिक मुद्दे के बारे में विश्लेषण करेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय विदेश नीति के सिद्धांतों की व्याख्या कर पाएंगे;
- भारत – अमेरिका संबंधों के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण कर पाएंगे;
- भारत –चीन संबंधों के विवादित मुद्दों का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- भारत– रूस संबंधों के इतिहास और वर्तमान रिश्तों का परीक्षण कर पाएंगे;
- वर्तमान विश्व के मुद्दे जैसे –मानवाधिकार, पर्यावरण, आतंकवाद लैंगिक मुद्दों की अवधारणा को समझ पाएंगे।

5.2 भारत की विदेश नीति

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति को राज्यों की एक पूर्ण राजनीतिक गतिविधि माना जाता है जिसके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने के लिए निर्णय लेने के लिए के एक सबसे बड़े साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। एक अच्छी विदेश नीति स्पष्ट रूप से अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करने और राष्ट्रों के बीच उचित स्थान प्राप्त करने में एक राज्य का नेतृत्व करती है। दुनिया भर के देशों के बीच बढ़ते वैश्वीकरण और अन्योन्याश्रितता ने सभी देशों के बीच स्वस्थ राजनयिक संबंधों की आवश्यकता को बढ़ाया है। आज, अंतरराष्ट्रीय व्यापार में, प्रभावी व्यापार और निवेश के लिए एवं सतत घरेलू विकास प्राप्त करने के लिए एक रणनीतिक विदेश नीति महत्वपूर्ण है।

किसी देश की विदेश नीति का अर्थ आमतौर पर शांति, निरस्त्रीकरण, जलवायु परिवर्तन, विकास, न्याय, उपनिवेशीकरण आदि जैसे अंतरराष्ट्रीय प्रासंगिकता के सभी मुद्दों के साथ अन्य देशों के साथ अपने संबंधों से है। यह वैश्विक मामलों में अपने राष्ट्रीय हित को आगे बढ़ाने वाले देश की नीति की रूपरेखा है। एक राज्य अपनी विदेश नीति के माध्यम से अन्य राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने की कोशिश करता है। विदेश नीति को विद्वानों द्वारा विभिन्न तरीकों से परिभाषित किया गया है; हालांकि, ज्यादातर विद्वानों का यह मत है कि यह दूसरे राज्यों के प्रति एक राज्य के व्यवहार से संबंधित है।

जॉर्ज मॉडलेस्की ने इसे 'अन्य राज्यों के व्यवहार को बदलने के लिए और अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण के लिए अपनी गतिविधियों को समायोजित करने के लिए समुदायों द्वारा विकसित गतिविधियों की प्रणाली के रूप में परिभाषित किया है। 'उनके अनुसार 'विदेश नीति को उन तरीकों पर प्रकाश डालना चाहिए जो राज्यों को बदलने का प्रयास करते हैं और अन्य राज्यों के व्यवहार को बदलने में सफल होते हैं।' हरमन ने विदेश नीति को "एक असतत उद्देश्यपूर्ण कार्रवाई के रूप में परिभाषित किया गया

टिप्पणी

है जो किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के राजनीतिक स्तर के निर्णय से उत्पन्न होती है।" जोसेफ फ्रेंकल के अनुसार, "विदेश नीति का निर्माण उन निर्णयों और कार्यों से होता है जो एक राज्य और अन्य के बीच कुछ सराहनीय सीमा संबंधों को सम्मिलित करता हैं"।

पैडलफ़ोर्ड और लिंकन के शब्दों में, 'एक देश की विदेश नीति बाहरी वातावरण के साथ उसके व्यवहार की समग्रता है। विदेश नीति उस प्रक्रिया का समग्र परिणाम है जिसके द्वारा एक राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने और अपने हितों को संरक्षित करने के लिए अपने व्यापक रूप से संकल्पित लक्ष्यों और हितों को कार्रवाई के विशिष्ट पाठ्यक्रमों में परिवर्तित करता है'। महेंद्र कुमार के अनुसार, विदेश नीति में (i) नीति निर्माता (ii) हित और उद्देश्य (iii) विदेश नीति के सिद्धांत, और (iv) विदेश नीति के साधन शामिल हैं। इसलिए, उन्होंने विदेश नीति को "राष्ट्रीय हितों की विचारधारा द्वारा निर्धारित विदेशी संबंधों में उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्रवाई के एक सोचे –समझे पाठ्यक्रम" के रूप में परिभाषित किया है।

किसी भी देश की विदेश नीति एक विशिष्ट बाह्य एवं आंतरिक वातावरण के स्वरूप द्वारा प्रभावित होती है साथ ही ऐतिहासिक विरासत, विचारधाराएं, व्यक्तित्व और संरचना भी विदेश नीति के निर्धारण के आधारभूत तत्व होते है। भारत की विदेश नीति का दार्शनिक आधार बुद्ध की सहिष्णुता, सम्राट अशोक की अहिंसा और उसके स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास और प्रेरणा पर आधारित है। भारत की विदेश नीति शांति, अहस्तक्षेप, विश्वबंधुत्व, सहिष्णुता और अहिंसा के विचारों से ओत–प्रोत है।

अगर भारत की विदेश नीति के इतिहास की बात करें तो राजा राममोहन राय सबसे पहले विचारक थे जिन्होंने भारत को आधुनिक दुनिया का हिस्सा बनने की भारत की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम अभिव्यक्त किया था। राजा राममोहन राय, द्वारकानाथ टैगोर, द्विजेंद्रनाथ और ब्रह्म समाज आंदोलन के नेताओं ने भारत के आधुनिकीकरण और अन्य देशों के साथ संबंध स्थापित करने की वकालत की थी। स्वामी विवेकानंद, महर्षि दयानंद सरस्वती, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, आदि ने भी इस विचार का और अधिक समर्थन किया था। इसके बाद 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ, जिसने शेष विश्व के प्रति भारत के दृष्टिकोण को आकार देने का कार्य किया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों के सम्मेलन और विचार–विमर्श में भारत को लीग ऑफ नेशंस के संस्थापक सदस्य के रूप में शामिल होने की अनुमति दी गई थी, जिससे भारत की अंतरराष्ट्रीय चेतना बढ़ी और विदेशी संबंधों में भारतीय अनुभव की शुरुआत हुई। इन विकासों ने प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के बीच विचारों को अंकुरित किया और भारतीय विदेश नीति के उन्मुखीकरण में परिवर्तित किया।अतः 1920 और 1946 के बीच की अवधि को उस अवधि के रूप में माना जाना चाहिए जब स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के लिए आधारभूत शर्तें तैयार की गई। इस प्रक्रिया में राष्ट्रपिता मोहन दास करमचंद गांधी का प्रभाव प्रमुख था। जहां गांधीजी ने भारतीय विदेश नीति के लिए रूपरेखा को परिभाषित किया, वही नेहरू ने विदेश नीति के लिए अपनी उन्मुखता को जाहिर किया। अहिंसा में गांधी की आस्था और नेहरू के समाजवादी झुकाव का भारत की विदेश नीति पर उसके प्रारंभिक स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

द्वितीय विश्व युद्ध के दुखद अनुभव और हिरोशिमा और नागासाकी में परमाणु बमों के उपयोग ने भारत को अहिंसा और शांति के प्रति अपना विश्वास स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की शक्ति गुटों की राजनीति का भारत ने मुखरता के साथ विरोध किया और अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता का रास्ता चुनते हुए विश्व के नवोदित राष्ट्रों को भी इस ओर प्रेरित किया। किंतु विदेश नीति में निरंतरता के साथ ही वैश्विक परिदृश्य में बदलाव और राष्ट्रीय हितों के प्राप्ति के लक्ष्यों के अनुरूप परिवर्तन आवश्यक है। हाल के दिनों में, भारत की विदेश नीति वैश्वीकरण और एक मुक्त बाजार के विचार से प्रभावित हुई है। इससे पहले, यह समाजवाद, लोकतंत्र और उदारवाद के विचारों से भी प्रभावित थी। इस प्रकार भारतीय विदेश नीति का दार्शनिक आधार सांस्कृतिक विरासत, विभिन्न सामाजिक–राजनीतिक और धार्मिक व्यक्तित्व के विचारों, प्रचलित अंतरराष्ट्रीय और घरेलू विचारधाराओं के साथ–साथ आंतरिक और बाहरी सामाजिक–राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं के अपने मूल पर निर्भर है।

भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य :

भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

- भारत की विदेश नीति का सबसे मुख्य और सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य किसी भी अन्य देश की तरह अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करना है।
- भारत को पारंपरिक और गैर–पारंपरिक खतरों से बचाना।
- एक ऐसे बाह्य वातावरण का निर्माण जो भारत के समावेशी विकास के लिए अनुकूल हो ताकि देश में गरीब से गरीब व्यक्ति तक विकास का लाभ पहुंच सके।
- यह सुनिश्चित करना कि वैश्विक मंचों पर भारत की आवाज़ सुनी जाए और भारत आतंकवाद, जलवायु परिवर्तन, निरस्त्रीकरण, वैश्विक संस्थानों के सुधार जैसे वैश्विक मुद्दों को प्रभावित करने योग्य हो।
- भारतीय प्रवासियों की सुरक्षा और उन्हें भारत से जोड़ना।

भारतीय विदेश नीति : मूल सिद्धांत और विशेषताएं

स्वतंत्रता के बाद से ही भारत की विदेश नीति कुछ मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित रही है। ये सिद्धांत निम्नलिखित है –

1) **पंचशील** : भारत की विदेश नीति के मार्गदर्शक सिद्धांतों की स्थापना पंचशील, व्यावहारिकता और राष्ट्रीय हितों के लक्ष्यों पर आधारित है। शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व या पंचशील के पांच सिद्धांतों को 1954 में भारत और चीन के बीच बातचीत के दौरान विकसित किया गया था। पांच सिद्धांत इस प्रकार हैं: (i) एक–दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता और संप्रभुता के लिए पारस्परिक सम्मान (ii) एक–दूसरे के आंतरिक संबंध में पारस्परिक गैर–हस्तक्षेप (iii) किसी के खिलाफ पारस्परिक गैर–आक्रामकता (iv) समानता और पारस्परिक लाभ (v) शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व।

   इन पांच सिद्धांतों को नव–स्वतंत्र देशों की आवश्यकता माना गया, जिन्हें पड़ोसियों के साथ शत्रुता में संलग्न होने के बजाय सहयोग की अधिक जरूरत थी। इन पांच सिद्धांतों की अंतर्निहित धारणा नव–स्वतंत्र राष्ट्रों द्वारा अंतरराष्ट्रीय

टिप्पणी

संबंधों के लिए एक नए और अधिक सिद्धांतवादी दृष्टिकोण का विकास था। भले ही ये सिद्धांत चीन के साथ संबंधों के संदर्भ में स्थापित किये गए हो किंतु ये हमेशा ही भारत के अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों में आधारभूत रहे हैं। ये सिद्धांत बाद में गुट निरपेक्ष आंदोलन का आधार बने।

2) **गुटनिरपेक्षता** : गुटनिरपेक्षता अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रूप से शामिल होने के लिए एक स्वतंत्र विदेश नीति उपकरण है जो भारतीय विदेश नीति की एक मूलभूत विशेषता और सिद्धांत रहा है। पं.जवाहरलाल नेहरू ने 1954 में गुटनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करते हुए कहा 'यह अपने आप को देशों के सैन्य गुटों के साथ न बांधना... लेकिन स्वतंत्र रूप से ... सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने की कोशिश करना है'। 1955 में इंडोनेशिया के बांडुंग में आयोजित एक सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रस्ताव रखा गया। 1 सितम्बर 1961 को 28 देशों के प्रमुखों ने बेलग्रेड में गुट निरपेक्ष आंदोलन की स्थापना की। धीरे–धीरे इसने अधिक देशों को अपने में सम्मिलत किया है और संयुक्त राष्ट्र में बहुसंख्यक विकासशील एवं काम विकसित देशों की आवाज का प्रतिनिधित्व करता आया है। शीत युद्ध के बाद की अवधि में गुटों की राजनीति के अंत के साथ ही इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगा। लेकिन वर्तमान विश्व में, गुटनिरपेक्ष आंदोलन को संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व में विकसित देशों के प्रभुत्व पर सवाल उठाने का एक बड़ा कार्य मिला है। इसके अलावा, गुट निरपेक्ष आंदोलन ने वैश्विक महत्व के कई मुद्दों पर महत्वपूर्ण रूप से विमर्श के द्वारा विश्व का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। इस आंदोलन की आवश्यकता, महत्व और प्रसिद्धि की सीमा इसकी सदस्यता में वृद्धि से अनुमानित की जा सकती है।

3) **अहस्तक्षेप का सिद्धांत** : भारतीय विदेश नीति की एक आधारभूत विशेषता इसकी अहस्तक्षेप की नीति में विश्वास है। भारत अन्य देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का विरोध करता है। हालांकि, यदि कोई देश अबोधता या जानबूझकर भारत के राष्ट्रीय हितों से टकराने का कार्य करता है तो भारत त्वरित और समय पर हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करता है। दखलअंदाजी गुणात्मक रूप से हस्तक्षेप से अलग है, खासकर जब हस्तक्षेप संबंधित देश के अनुरोध पर किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत द्वारा 1971 में बांग्लादेश की स्वतंत्रता के लिए प्रयास, श्रीलंका के अनुरोध पर 1987–90 में लिट्टों के विरुद्ध सैन्य सहायता, मालदीव (1988) में श्रीलंका के उग्रवादी गुट तमिल ईलम पीपुल्स लिबरेशन संगठन की सहायता से तख्तापलट के प्रयासों को विफल करना ।

4) **उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध** : भारत ने एक लम्बे समय तक औपनिवेशिकता के दर्द को झेला था। इसलिए 1947 में स्वतंत्र होने के साथ ही भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत अन्य उपनिवेशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के चंगुल से मुक्त कराना रहा जिसके लिए भारत ने औपनिवेशिक राष्ट्रों को अपना सहयोग दिया।

टिप्पणी

5) **रंगभेद या नस्लीय भेदभाव का विरोध** : भारत की विदेश नीति किसी भी रूप में रंगभेद या नस्लीय भेदभाव की निंदा करती है। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ अपनी आवाज सशक्त रूप में उठाई थी। इसके अतिरिक्त भारत पहला ऐसा देश था जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ में नस्लीय भेदभाव के मुद्दे को उठाया और तर्क दिया कि यह संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धांतों और 1948 के मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा के खिलाफ है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अतिरिक्त गुट निरपेक्ष आंदोलन के एवं अन्य मंचों पर भी भारत ने रंगभेद के खिलाफ आवाज बुलंद की। भारत के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने दक्षिण अफ्रीकी सरकार के विरुद्ध प्रतिबंध की घोषणा की और 1971 को संयुक्त राष्ट्र ने रंगभेद के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय वर्ष के रूप में घोषित किया।

6) **लोकतंत्र में विश्वास और समर्थन** : भारतीय विदेश नीति लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का समर्थन करती है। हालांकि, भारत विचारधाराओं के थोपे जाने में विश्वास नहीं करता है, इसलिए भारत ने सरकार के किसी भी रूप चाहे वह एक लोकतंत्र, राजशाही या सैन्य तानाशाही हो के साथ संबंधों का प्रयास किया है। भारत का मानना है कि यह सबसे अच्छा है कि किसी देश के लोगों पर अपने नेताओं को चुनने या हटाने या शासन के रूप को बनाए रखने या बदलने के लिए छोड़ दिया जाए। अर्थात भारत किसी अन्य देश या समूह द्वारा बल या अन्य माध्यमों से किसी विशेष देश में शासन परिवर्तन या उल्लंघन के विचार का समर्थन नहीं करता है ।

7) **शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व और आक्रामकता पर रचनात्मक जुड़ाव की नीति** : भारत ने सदियों से सर्वधर्म समभाव (सभी धर्मों के प्रति सद्भाव और सहिष्णुता) की नीति को अपना प्रमुख आधार माना है, जो एक वेदांत अवधारणा है। भारत ने विदेश नीति स्तर पर इस नीति को शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व और सहयोग के रूप में अपनाया है।

साथ ही भारत आक्रामकता पर रचनात्मक जुड़ाव की नीति की वकालत करता है। भारत का मानता है कि हिंसक प्रतिशोध और टकराव केवल मामलों को जटिल बना सकते हैं। युद्ध किसी समस्या का कोई हल नहीं है। हर युद्ध के बाद परस्पर विरोधी समूह अंततः वार्ता की मेज पर आ जाते हैं। किंतु इस नीति को भारत की कमजोरी के रूप में समझा जाना गलत है। यह विशेष रूप से पाकिस्तान पर लागू होता है जो भारत में लक्षित राज्य प्रायोजित आतंकवाद को बढ़ावा देता रहा है जिसके प्रतुत्तर में सितंबर 2016 में पाकिस्तान के कब्जे वाले भारतीय क्षेत्र में आतंकवादी पंच पैड को निशाना बनाने के लिए की गयी सर्जिकल स्ट्राइक और पुलवामा आतंकवादी हमले के प्रतिशोध में फरवरी 2019 में बालाकोट में आतंकवादी शिविरों में एयर स्ट्राइक इसके उदाहरण हैं।

8) **संरचनात्मक स्वायत्तता** : निर्णय लेने की स्वतंत्रता और रणनीतिक स्वायत्तता भारत की विदेश नीति की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। भारत इस प्रकार साझेदारियों में विश्वास करता है और विशेषकर सैन्य गठबंधनों से दूर रहने पर जोर देता है।

टिप्पणी

9) **वैश्विक मुद्दों पर आम सहमति पर जोर** : भारत वैश्विक मुद्दों पर चर्चा और इस तरह से विश्व व्यापार व्यवस्था, जलवायु परिवर्तन, आतंकवाद, बौद्धिक संपदा अधिकारों, वैश्विक शासन के रूप में वैश्विक आयामों के मुद्दों पर वैश्विक आम सहमति की वकालत करता है।

10) **संयुक्त राष्ट्र में विश्वास** : भारतीय विदेश नीति की एक मुख्य विशेषता संयुक्त राष्ट्र संघ में उसका विश्वास है। संयुक्त राष्ट्र का संस्थापक सदस्य होने के नाते उसके उद्देश्यों और सिद्धांतों के लिए भारत हमेशा प्रतिबद्ध रहा है और इसके शांति–संचालन कार्यों में महत्वपूर्ण योगदान देता रहा है। भारत जी–4 समूह का सदस्य है और यह राष्ट्र की सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता के लिए भी इच्छुक है।

11) **परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उपयोग एवं परमाणु अप्रसार** : गुट–निरपेक्ष देशों के समूह के साथ, भारत ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर निरस्त्रीकरण के विचार को हमेशा आगे रखा था हालांकि भारत परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के विचार का समर्थन करता है। अब, यद्यपि भारत एक परमाणु हथियार संपन्न राज्य है, लेकिन विदेश नीति के अपने इस मूल सिद्धांत के लिए प्रतिबद्ध है कि कि परमाणु हथियारों के वैश्विक उन्मूलन से इसकी सुरक्षा के साथ–साथ दुनिया के बाकी हिस्सों में भी सुरक्षा में वृद्धि होगी, साथ ही भारत 'प्रथम प्रयोग न करने की' नीति और गैर परमाणु राष्ट्रों के विरुद्ध भी परमाणु हथियार का प्रयोग न करने पर अपनी सहमति व्यक्त करता है।

इस प्रकार भारत की विदेश नीति शांति और सहयोग पर आधारित होने के साथ ही अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति पर भी जोर देती है। राष्ट्रों के मध्य सहयोगात्मक संबंधों के लिए अंतरराष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय सहयोग पर बल देने के साथ ही मतभेद के द्विपक्षीय मुद्दों के समाधान हेतु भारत हमेशा से द्विपक्षीय बातचीत पर बल देता आया है। बदलते वैश्विक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारत ने अपनी विदेश नीति को नया आयाम देने का प्रयास किया है। भारत अब यह सुनिश्चित करने के लिए प्रयासरत है कि वह वैश्विक मुद्दों और कार्यक्रमों को आकार देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करे। भारत अब "नियम का पालन करने" के बजाय "नियम बनाने" वाले देश के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करना चाहता है। आज भारत बहु–ध्रुवीय विश्व में एक मजबूत ध्रुव के रूप में उभर रहा है। इसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य बनने की आकांक्षा से जोड़ा जाता है, जिसके लिए बड़ी संख्या में देशों ने भारत को समर्थन का वादा किया है।

5.2.1 संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंध

भारत और अमेरिका दुनिया के दो सबसे महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक देश हैं। अमेरिका सबसे प्राचीन आधुनिक लोकतांत्रिक देश है, जबकि भारत आधुनिक दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। इन दो महान लोकतंत्रों के बीच किसी भी प्रकार का सकारात्मक सहयोग संबंध एक नयी विश्व व्यवस्था का निर्माण करता है। विशेष रूप से, अस्थिर दक्षिण चीन सागर और एशिया–प्रशांत क्षेत्र में शांति हेतु संतुलन स्थापित कर सकता है जो दुनिया भर में शांति बनाए रखने में भी योगदान देगा।

टिप्पणी

विश्व के दो बड़े लोकतांत्रिक देश होने के साथ ही दोनों देशों में कुछ अन्य समानताएं भी देखी जा सकती हैं। जैसे की उनकी समानताएं उनके औपनिवेशिक अतीत में आसानी से देखी जा सकती हैं। दोनों पर ब्रिटेन का शासन अलग–अलग समय पर था। अमेरिका के 13 मूल राज्य ब्रिटिश उपनिवेश थे जब उन्होंने 4 जुलाई, 1776 को अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की थी। बाद में उन्होंने उपनिवेशों को बनाए रखने के लिए ब्रिटिश प्रयासों के खिलाफ संघर्ष किया एवं जीत हासिल की जिसके पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका का नया संविधान 1987 में तैयार किया गया और 1789 में इसकी पुष्टि की गई। भारत में भी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का एक लंबा इतिहास रहा जब अंग्रेज पहली बार 17 वीं शताब्दी में व्यापारियों के रूप में पहुंचे और बाद में अपना साम्राज्य स्थापित किया। भारत ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया और 1947 में एक संप्रभु राज्य बन गया।

भारत के संविधान और अमेरिकी संविधान में भी कई समानताएं देखने को मिलती हैं। दोनों देश गणतांत्रिक हैं, जो लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित जनप्रतिनिधियों द्वारा शासित हैं। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों अपने लोगों को सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की एक स्वतंत्र प्रणाली में अपने शासकों का चुनाव करने की स्वतंत्रता देते हैं। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह, लोगों की आकांक्षाओं के लिए उत्तरदायी शासन की स्थापना करता है। केवल राजनीति और चुनावी प्रणालियों में ही समानता नहीं है, बल्कि दो समाजों में बुनियादी सामान्य विशेषताएं हैं। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका, दोनों बहुलवादी समाज हैं जहां असंतोष को कुचला नहीं जाता है। लोग अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करते हैं और विश्वास और अभिव्यक्ति एवं धर्म की पूरी स्वतंत्रता रखते हैं।

हालांकि दोनों देश कई महत्वपूर्ण हितों और मूल्यों को साझा करते हैं लेकिन उनके रिश्ते में ऐतिहासिक रूप से सहयोग की तुलना में अविश्वास अधिक रहा है। भारत के स्वतंत्रता के पश्चात् अस्तित्व में आने के बाद से ही अमेरिका के साथ भारत के संबंधों में कई उतार–चढ़ाव देखे गए। अधिकतर बार दो देशों के बीच संबंध इतने उत्साहजनक नहीं रहे थे और दोनों सरकारों के बीच अविश्वास का एक कारण भी था। लगभग पांच दशकों तक, अमेरिका ने आमतौर पर भारत–अमेरिका संबंधों को उच्च प्राथमिकता के स्तर पर नहीं रखा। हालांकि 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण की अवधि के दौरान अमेरिकी नीति को भारत के पक्ष में रही और कुछ समय के लिए, कैनेडी प्रशासन ने भारत के लिए समर्थन की मुद्रा अपनाई। लेकिन, अमेरिका ने हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों पर प्राथमिक ध्यान दिया और भारत को एक समान राष्ट्र नहीं माना।

भारत को आमतौर पर अमेरिकी विदेश नीति निर्माताओं द्वारा कम प्राथमिकता दी जाती थी। भारत द्वारा भी संयुक्त राज्य अमेरिका के अंतरराष्ट्रीय राजनीति में दृष्टिकोण की सराहना कम ही की गयी, और प्रायः गुटनिरपेक्षता के साथ ही सोवियत संघ के साथ भारत का झुकाव अधिक देखा गया। किंतु सोवियत संघ के पतन और शीत युद्ध के अंत के साथ ही वैश्विक परिदृश्य में जो बदलाव हुए उसने भारत और अमेरिका के संबंधों को महत्वपूर्ण रूप से परिवर्तित किया। हम भारत और अमेरिका के संबंधों को दो भागों में बांट के अध्ययन करेंगे। पहला शीत युद्ध के दौरान और दूसरा शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् दोनों देशों के संबंध।

शीत–युद्ध काल के दौरान भारत और संयुक्त राज्य के संबंध

टिप्पणी

दोनों देशों के मध्य कई मूल्य साझा होने के बावजूद, शीत–युद्ध काल के दौरान भारत और अमेरिका के संबंधों में एक –दूसरे की नीतियों के प्रति विश्वास की कमी दिखाई दी और दोनों देशों के मध्य संबंधों में सामान्यता के साथ ही कड़वाहट और आभासी शत्रुता के दौर भी आए। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका के लिए, भारत का कोई आर्थिक या सामाजिक महत्व नहीं था। चूंकि भारत तब तक ब्रिटिश उपनिवेश था, इसलिए स्वतंत्र स्तर पर भारत और अमेरिका के बीच संवाद असंभव था।

तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को थोड़ा विश्वास था कि भारत दक्षिण एशिया में जापानी आक्रामकता का विरोध करने और युद्ध प्रयासों के लिए आवश्यक प्रतिरोध प्रदान करने के लिए एक ब्लॉक के रूप में कार्य कर सकता था। किंतु यह सुनिश्चित करने के लिए कि भारत विश्व–युद्ध –II में भाग ले, भारत के राष्ट्रवादी नेताओं को विश्वास में लिया जाना आवश्यक था। भारत के राष्ट्रवादी नेता एक खास बात पर अड़े रहे कि भारत युद्ध के प्रयासों का समर्थन तभी करेगा, बशर्ते अंग्रेज उन्हें बदले में स्वतंत्रता दें। रूज़वेल्ट ने इस मामले में, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल के समक्ष भारतीय मुद्दों को उठाया। किंतु ब्रिटेन ने अमेरिका के इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका–ब्रिटिश गठबंधनों में कुछ तनाव पैदा हो गया। जहां तक अमेरिका का संबंध है, यह विचार था कि चूंकि संबद्ध शक्तियां स्वतंत्रता के लिए लड़ रही हैं और आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए, उन्हें बदले में अपने उपनिवेशों को भी मुक्त करना चाहिए, जो समान कारणों से साम्राज्यवाद से लड़ रहे थे।

1947 में भारत की स्वतंत्रता के साथ ही भारत और अमेरिका के रिश्तों में दूरी और बढ़ी। इसकी मुख्य वजह कश्मीर मुद्दा और शीत युद्ध की शक्ति गुटों की राजनीति थी। कश्मीर के मसले में अमेरिका ने ब्रिटेन का मित्र राष्ट्र होने के नाते भारत के ऊपर संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से कश्मीर मुद्दे के समाधान का दबाव डाला और जनमत संग्रह करवाने की वकालत की। यहां तक की अमेरिका द्वारा भारत को आगाह भी किया गया की यदि भारत सहयोग नहीं करता है तो अमेरिका के साथ भारत के संबधों पर इसके परिणाम नकारात्मक होंगे।

शीत युद्ध के युग ने अमेरिका और तत्कालीन सोवियत संघ के नाम से दो शक्ति गुटों को जन्म दिया। भारत ने दोनों में से किसी एक गुट के साथ संलग्न होने से इनकार कर दिया, भारत ने दो शक्ति गुटों के बीच अच्छी दूरी बनाकर एक नया विश्व व्यवस्था बनाने की कोशिश की। मार्शल टीटो जैसे विश्व के नेताओं के सहयोग में नेहरू ने ऐसे देशों के एक प्रकार के नए विश्व व्यवस्था बनाने की कोशिश की। ये राष्ट्र दो शक्ति गुटों से संबंधित नहीं थे इसलिए गुट–निरपेक्ष राष्ट्र कहे गए। एक गुट–निरपेक्ष राष्ट्र होने के बावजूद, भारत को अमेरिका के बीच विश्वास का निर्माण नहीं हो सका। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत की साख पर अमेरिका को हमेशा संदेह रहा। कोरियाई संकट के दौरान भारत ने अपना अलग रुख अपनाया। इस मुद्दे पर भारत ने अमेरिकी विचारों का पूरी तरह से समर्थन नहीं किया और भारत के इस कृत्य की व्याख्या अमेरिका द्वारा सोवियत संघ के प्रति भारत के झुकाव के रूप में की गई और यह स्थिति सोवियत संघ के पतन तक जारी रही।

टिप्पणी

भारत ने सैन्य गठजोड़ की एक प्रणाली के माध्यम से सोवियत संघ और चीन के खिलाफ साम्यवाद के प्रसार को रोकने की अमेरिकी नीति को मंजूरी नहीं दी, और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व और सहयोग के वातावरण को बढ़ावा देने की मांग की। तिब्बत पर चीन के आक्रमण पर नेहरू का सौहार्दपूर्ण रुख, चीन को अलग–थलग न करना, अमेरिका के इस पक्ष को की चीन कोरिया में आक्रमणकारी राष्ट्र है भारत का सहयोग न मिलना और अमेरिका द्वारा प्रायोजित 1950 के शांति संकल्प के लिए एकजुट होने के विरोध में सहयोग न देना। भारत अमेरिका–जापान शांति संधि के समापन के लिए अमेरिका द्वारा बुलाए गए सम्मेलन में भी शामिल नहीं हुआ। इन सब घटनाओं ने अमेरिका को भारत के विरोध में उकसाने का काम किया।

भारत–अमेरिका रिश्तों के बीच विवाद की मुख्य वजह सोवियत–साम्यवाद के साथ–साथ अमेरिका की पाक–उन्मुख भारतीय उपमहाद्वीप और मध्य–एशिया नीतियों के पक्ष में अमेरिकी संदेह था। अपने राष्ट्रीय हितों के लिए पाकिस्तान के प्रति अमेरिकी नीतियों के कारण भारत के हितों की पूरी तरह से अवहेलना हो रही थी। अमेरिका विशेष रूप से जम्मू और कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों में पाकिस्तान की सक्रिय भागीदारी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था, अमेरिका ने हमेशा यह कहा कि यह केवल आंतरिक अशांति का मसला है और उसने पूरी तरह से पाकिस्तान की आतंकवादी गतिविधियों को बढ़ावा देने की नीति पर अपनी आंखों को पूरी तरह से बंद करके रखा। साथ ही साथ पाकिस्तान को आतंकवाद से लड़ने और नष्ट करने के नाम पर अमेरिका द्वारा बड़ी राशि प्रदान की जाती रही है। यह भी दो देशों के संबंधों के बीच विवाद की सबसे महत्वपूर्ण वजहों में से एक था।

भारत और अमेरिका के बीच सहयोग की एकमात्र असाधारण अवधि 1960 के दशक की शुरुआत में थी। अमेरिकी राष्ट्रपति, कैनेडी और भारत के प्रधानमंत्री, नेहरू के बीच एक बहुत अच्छा तालमेल था, जो भारत और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में उस समय के एक बहुत लोकप्रिय नेता थे। चीन के एक साम्यवादी देश होने के कारण अमेरिका ने 1962 में भारत–चीन युद्ध के दौरान भारत का समर्थन किया था।

किंतु जल्द ही दोनों देशों के बीच 1965 में भारत–पाक युद्ध के वर्ष के दौरान दरार पैदा हो गयी और तब से यह बढ़ती ही चली गई। 1971 में बांग्लादेश मुक्ति के दौरान भारत–अमेरिका संबंध सबसे खराब था। अमेरिका ने न केवल पाकिस्तान का समर्थन किया बल्कि बंगाल की खाड़ी में अपने परमाणु सक्षम सातवें–बेड़े को भेजकर भारत को धमकी भी दी। पिछले चार दशकों से, दोनों देशों के बीच सबसे अधिक परेशान करने वाला मुद्दा भारत के परमाणु कार्यक्रमों के साथ–साथ पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रमों को अमेरिकी समर्थन भी रहा है, विशेष रूप से भारत के खिलाफ।

हालांकि आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रों में दोनों देशों के बीच संबंध बढ़ते रहे और अमेरिका ने 1951 के तकनीकी सहयोग समझौते के तहत भारत को बहुमूल्य सहायता प्रदान की। अमेरिका ने खाद्यान्न कमी की समस्या से निपटने के लिए भारत को भारी मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध कराया। भारत को फोर्ड फाउंडेशन, रॉकफेलर फाउंडेशन और कार्नेज जैसे विभिन्न निजी फाउंडेशनों से भारी सहायता मिली। इससे पहले, जब 1949 में नेहरू ने संयुक्त राज्य अमेरिका का दौरा किया तो उनका गर्मजोशी से स्वागत किया गया था। 1951–54 की अवधि के दौरान भारत–अमेरिका संबंध

टिप्पणी

मैत्रीपूर्ण और सौहार्दपूर्ण थे। जब 1956 में ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने मिस्र पर आक्रमण शुरू किया, क्योंकि स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण हो गया था, तीनों आक्रामक देशों की ज्यादातर देशों ने कटु आलोचना की थी। भारत ने भी ऐसा ही किया। भारत ने स्वेज संघर्ष को समाप्त करने के अमेरिकी प्रयासों का पूरा समर्थन किया। लेकिन, भारत ने सोवियत संघ में 1956 में भी अपनी सैन्य कार्रवाई को समाप्त करने के लिए सोवियत संघ के आह्वान का समर्थन नहीं किया था ।

शीत युद्ध काल में सोवियत संघ ने हमेशा संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद में अपनी वीटो शक्ति का उपयोग अमेरिका की एकतरफा भारतीय उप–महाद्वीप की नीतियों को चुनौती देने वाले और भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा के समर्थन करने के लिए किया था। भारत और यूएसएसआर के बीच घनिष्ठ संबंधों का अमेरिका ने हमेशा विरोध किया। इस प्रकार, उनके संबंधों में तनाव मुख्य रूप से महत्वपूर्ण मुद्दों के प्रति उनके परस्पर विरोधी दृष्टिकोण और भिन्न दृष्टिकोण के कारण था।

शीत युद्ध के बाद भारत अमेरिका संबंध

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की शुरुआत में दुनिया में कई बड़े बदलाव हुए जिसने भारत और अमेरिका के संबंधों में एक नए युग की शुरुआत की। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही शीत युद्ध अपने अंत की ओर आ गया। संयुक्त राज्य अमेरिका एक मात्र सर्वोच्च शक्ति के रूप में उभरने के साथ विश्व एकध्रुवीय हो गया। गैट वार्ता के उरुग्वे दौर का समापन हुआ और विश्व व्यापार संगठन 1 जनवरी, 1995 से प्रभावी हुआ। इसने दुनिया में उदारीकरण और वैश्वीकरण की शुरुआत की। 1991 में नरसिम्हा राव भारत के प्रधानमंत्री बने, 1992 में बिल क्लिंटन को संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में चुना गया। इन सभी परिवर्तनों ने भारत अमेरिकी संबंधों को प्रभावित किया।

सोवियत संघ भारत का प्रमुख व्यापारिक भागीदार और आर्थिक सहायता और सैन्य उपकरणों का सबसे विश्वसनीय स्रोत था। किंतु सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत को अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों में विविधता लाने की आवश्यकता थी। प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की शुरुआत की, जिसने भारत को संयुक्त राज्य अमेरिका सहित प्रमुख विश्व आर्थिक शक्तियों की ओर आकर्षित किया। शीत युद्ध के बाद दक्षिण एशिया में भारत की आर्थिक आवश्यकताओं और रणनीतिक महत्व के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका ने नए दृष्टिकोण के साथ भारत की ओर देखा। चीन का एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदय होने से दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय जिम्मेदारी में भारत एक महत्वपूर्ण मित्र साबित हो सकता था। इस प्रकार बदलती वैश्विक स्थिति में भारत और अमेरिका दोनों देशों के सामरिक आर्थिक हितों के लिए आपसी सहयोग आवश्यक था।

नरसिम्हा राव ने 1994 में संयुक्त राज्य अमेरिका का दौरा किया। मार्च 2000 में बिल क्लिंटन भारत आए और सितंबर 2000 में अटल बिहारी वाजपेयी ने संयुक्त राज्य अमेरिका का दौरा किया। 2000 से पहले भारत–अमेरिका संबंधों के पहले 53 वर्षों के दौरान, भारत में अमेरिकी राष्ट्रपतियों द्वारा केवल तीन दौरे हुए 1959 में ड्वाइट आइजनहावर, 1969 में रिचर्ड निक्सन और 1978 में जिमी कार्टर का दौरा। जनवरी 2001 में, जॉर्ज डब्ल्यू बुश संयुक्त राज्य अमेरिका के अगले राष्ट्रपति के रूप में सफल

टिप्पणी

हुए, जिन्होंने भारत के साथ अच्छे संबंध की तलाश की। जुलाई 1998 से सितंबर 2000 तक, दोनों देशों में शीर्ष विदेश नीति के नेताओं, जसवंत और टैलबोट के बीच दस दौर की वार्ता संपन्न हुई, ताकि भारत–अमेरिका संबंधों के नए और प्रखर आधार तैयार किए जा सकें।

हालांकि इस दौरान भारत– अमेरिकी रिश्तों में मतभेद के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु भी उभर कर आये। इसमें परमाणु अप्रसार संधि का मुद्दा है जिसमें हस्ताक्षर हेतु अमेरिका भारत पर दबाव बनाता रहा है। 1995 में अमेरिका इस संधि को, अघोषित समय के लिए नवीनीकरण के पक्ष में था किंतु भारत इसका विरोध कर रहा था। किंतु भारत के विरोधों के बावजूद यह संधि पारित हो गयी। ऐसा ही 1996 में व्यापक परमाणु परिक्षण निषेध संधि के साथ भी हुआ। भारत ने इस संधि पर अपनी असहमति दर्ज कराई किंतु अमेरिका के अड़ियल रवैये से यह संधि भी पारित हो गयी। भारत के इस विरोधी रूख ने दोनों के संबंधों में कटुता लाने का कार्य किया।

इसी प्रकार मई 1998 में भारत द्वारा किए गए पोखरण परमाणु परीक्षणों ने संयुक्त राज्य अमेरिका से एक तीखी प्रतिक्रिया प्राप्त की, जिससे भारत–अमेरिका के संबंधों में दरार आयी और अस्थायी रूप से भारत पर अमेरिका ने प्रतिबंधों की एक विस्तृत श्रृंखला को लागू किया। हालांकि, 11 सितंबर, 2001 को संयुक्त राज्य अमेरिका में आतंकवादी हमलों के बाद भारत से अमेरिका को मदद की उदार पेशकश की गयी, जिसका की दक्षिण एशियाई मामलों के लिए अमेरिकी सहायक सचिव क्रिस्टीना बी रोक्का द्वारा सराहना भी की गई थी।

1999 में कारगिल संकट के दौरान, जब पाकिस्तान की खुफ़िया निदेशालय ने कारगिल के पास कश्मीर में नियंत्रण रेखा पर सैनिकों को भेजा था, तो यह पहली बार था, जब यूएसए पाकिस्तान के जगह भारत के पूर्ण समर्थन में आया था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने क्लिंटन की भारत –यात्रा के बाद से भारत में लगातार रुचि प्रदर्शित की है। 2 मार्च, 2006 को नई दिल्ली में, जॉर्ज डब्ल्यू बुश और मनमोहन सिंह ने असैनिक परमाणु सहयोग को लेकर दोनों नेताओं के बीच वाशिंगटन में जुलाई 2005 शिखर सम्मेलन के दौरान एक वार्ता के बाद एक नागरिक परमाणु सहयोग समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। यह संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा एक असैन्य परमाणु सहयोग स्थापित करने के लिए असामान्य कदम था।

भारत सरकार के अमेरिकी प्रशासन के साथ विभिन्न स्तरों पर सक्रिय सहयोग और संपर्क दोनों देशों के बीच एक सेतु प्रदान करते है।बढ़ते आर्थिक और व्यापारिक संबंध दोनों देशों के बीच बंधन का वास्तविक प्रतिबिंब हैं। भारत–अमेरिका द्विपक्षीय व्यापार में भी वृद्धि हुयी है। राष्ट्रपति ओबामा की यात्रा के दौरान संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अमेरिका द्वारा भारत की सदस्यता के समर्थन की बात की गयी। आज भारत अमेरिका के बीच व्यापक रक्षा और सैन्य सहयोग अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है।

भारत ने शीत युद्ध के दौरान पिछले कुछ अमेरिकी प्रशासनों के दौरान निकट संबंध स्थापित किये है। जैसा कि 2005 में राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू बुश ने कहा था, "भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में आधे दुनिया की दूरी है। फिर भी, आज हम दोनों राष्ट्र पहले से ज्यादा करीब हैं"। वर्तमान में भारत–अमेरिका संबंध कई आधिकारिक यात्राओं

टिप्पणी

के द्वारा सुधार कर रहे हैं। अमेरिका को अब भारत द्वारा "हस्तक्षेपकर्ता" के रूप में नहीं देखा जाता है।

हालांकि व्यापार भारत और अमेरिका के बीच विवाद की एक प्रमुख वजह रहा है। भारत को अमेरिका द्वारा "टैरिफ किंग" के रूप में संदर्भित किया गया है जो "अत्यधिक उच्च" आयात शुल्क लगाता है। डोनाल्ड ट्रम्प ने आर्थिक आयाम पर "अमेरिका प्रथम" की नीति तैयार की, इसका मतलब है कि भारत सहित प्रमुख व्यापारिक भागीदारों के साथ अमेरिका के व्यापार घाटे को कम करना। जून 2019 में, ट्रम्प प्रशासन ने भारत के लाभों को सामान्यीकृत प्रणाली वरीयताएं (GSP) योजना के तहत समाप्त करने का निर्णय लिया, जो इस देश से अमेरिका को निर्यात किए गए + 6 बिलियन से अधिक मूल्य के उत्पादों के लिए अधिमान्य, शुल्क–मुक्त पहुंच प्रदान करता है। बढ़ते व्यापार तनाव के बीच जीएसपी सूची से हटाने से भारत को अंततः कई अमेरिकी आयातों पर प्रतिशोधी शुल्क लगाने के लिए प्रेरित किया गया। इसने अमेरिका को भारत के खिलाफ विश्व व्यापार संगठन का दृष्टिकोण दिया है।

इस प्रकार शीत युद्ध के समाप्ति के बाद वैश्विक भू–राजनीति में बदलाव, भारत की आर्थिक शक्ति के रूप में उभरना, एक मुखर और शक्तिशाली चीन का उदय , और वैश्विक पटल पर भारत का बढ़ता कद दोनों के संबंधों में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। भारत और अमेरिका के बीच संबंध मजबूत लोकतंत्र (शीत युद्ध के दौरान) से रणनीतिक साझेदारों (शीत–युद्ध के बाद के युग) में बदल गए हैं। भारत को कई घरेलू समस्याओं के बावजूद सबसे बड़े लोकतंत्र और उभरती हुई आर्थिक शक्ति के रूप में देखा जाता है। इसे एशिया में एक विश्वसनीय और संभावित साझेदार के रूप में भी देखा जाता है, अगर अमेरिका के संबंधों में चीन के साथ खटास आती है। अमेरिका अपनी धुरी के तहत एशिया नीति में भारत को चीन के आक्रामक उदय के नियंत्रण करने के लिए एक आदर्श बैलेंसर के रूप में देखता है। इसलिए, अमेरिका ने दक्षिण चीन सागर और हिंद महासागर में चीन का मुकाबला करने के लिए इंडो–पैसिफिक की अवधारणा तैयार की है।

भले ही भारत अमेरिका के संबंध में काफी उतार चढाव रहे हैं, लेकिन दोनों राष्ट्र अपनी संबंधित विदेशी नीतियों की रणनीतिक कमजोरियों के संबंध के मूल्य को पहचानते हैं। आखिरकार, यह उन मतभेदों पर चर्चा करने की इच्छा है जो भारत और अमेरिका जैसे दो लोकतंत्रों को एक स्वाभाविक भागीदार बनाते हैं।

5.2.2 चीन के साथ संबंध

चीन और भारत दुनिया की दो सबसे पुरानी सभ्यता हैं और सहस्राब्दियों से एक साथ अस्तित्व में रही हैं। दोनों औपनिवेशिक इतिहास की एक समान विरासत भी साझा करते हैं। दोनों दुनिया के दो सबसे अधिक आबादी वाले देश हैं और दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती प्रमुख अर्थव्यवस्थाएं हैं। चीन और भारत के बीच संबंध प्राचीन काल से हैं। भले ही 1950 के दशक से पहले भारत और चीन का अपेक्षाकृत कम राजनीतिक संपर्क था। लेकिन, दोनों देशों के मध्य पहली शताब्दी से व्यापक और घनिष्ठ ऐतिहासिक सांस्कृतिक संपर्क रहा है। विशेषकर भारत से चीन तक बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ इसके सांस्कृतिक संबंधों का विस्तार हुआ। इसके साथ ही सिल्क रोड के माध्यम से

मध्य एशिया के साथ व्यापार संबंधों ने दोनों क्षेत्रों के बीच आर्थिक संपर्क का काम किया।

टिप्पणी

बौद्ध धर्म के प्रसार से पहले चीन और भारत का भी कुछ संपर्क रहा है। भारतीय महाकाव्य महाभारत में "चीन" का संदर्भ देखने को मिलता हैं, जो कि 'किन' राज्य का उल्लेख करते हैं, जो बाद में 'किन' राजवंश बन गया। चाणक्य जो की मौर्य साम्राज्य के प्रधान सलाहकार और एक प्रमुख भारतीय चिंतक, राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री थे ने भी चीन के साथ व्यापारिक संबंध का उल्लेख किया था। यूरोपीय उपनिवेशीकरण के आगमन से पूर्व, चीन, सोंग (960–1279) और किंग (1644–1912) राजवंशों के कारण दुनिया की महान शक्ति था। गुप्त साम्राज्य और मुगल साम्राज्य (1526–1857) की वजह से, भारत की आर्थिक, सैन्य और सांस्कृतिक कौशल भी ईर्ष्या का एक कारण थी। किंतु शक्तिशाली और महान एशियाई सभ्यताओं में गिरावट आई, क्षय हुआ और साम्राज्यों का विघटन हो गया और अंततः यूरोपीय शक्तियों द्वारा जीत लिया गया।हजारों वर्षों से की निकटता के बाद भी, चीन और भारत की प्राचीन सभ्यताओं में उस समय अधिकांशतः आश्चर्यजनक रूप से बहुत कम राजनीतिक संपर्क था।

बीसवीं सदी ने सीमाओं पर बढ़ते विवाद और शक्ति, प्रभाव, संसाधनों और बाजारों के लिए भूराजनीतिक प्रतिस्पर्धा में वृद्धि की। भारत और चीन, दोनों प्राचीन सभ्यताओं के उत्तराधिकारी, आज अपनी आर्थिक क्षमताओं और भू राजनीतिक दृष्टि से दो सबसे शक्तिशाली और प्रभावशाली एशियाई देशों के रूप में उभरे हैं।

स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में भारत–चीन संबंध

दो नए उभरते एशियाई राष्ट्रों के रूप में, भारत को 1947 में ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्रता प्राप्त हुयी थी और जनवादी गणराज्य चीन या पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना (PRC), 1949 में माओ जेदांग की साम्यवादी क्रांति के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। भारत और चीन के मध्य 1960 तक संबंधों में मधुरता रही और यह दोनों के मध्य संबंधों का एक स्वर्णिम काल था। 30 दिसंबर 1949 को, भारत जनवादी गणराज्य चीन (PRC) को कूटनीतिक रूप से मान्यता देने वाला पहला गैर–समाजवादी राष्ट्र बना। भारत ने संयुक्त राष्ट्र में एक चीन की स्थायी सदस्यता के लिए भी समर्थन किया।

अप्रैल 1954 में दोनों सरकारों द्वारा एक बड़ा समझौता किया गया, जिसके द्वारा आधिकारिक तौर पर भारत ने चीन की तिब्बत पर संप्रभुता को स्वीकार कर लिया। भारत और चीन ने तिब्बत पर आठ साल के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए थे, जिसने उनके शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व (पंचशील) के पांच सिद्धांतों के रूप में संबंधों के आधार को निर्धारित किया। जनवादी गणराज्य चीन के विरोध से बचने के लिए, नेहरू ने चीनी नेताओं को सूचित किया कि भारत की न तो राजनीतिक और न ही क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएं हैं। न ही भारत तिब्बत में विशेष विशेषाधिकार की चाहत रखता था, लेकिन पारंपरिक व्यापारिक अधिकारों को जारी रखेगा।भारत और चीन के बीच सीधी बातचीत शुरू हुई। कोरियाई युद्ध (1950–1953) को समाप्त करने में भारत के मध्यस्थता के प्रयासों से माहौल में सुधार हुआ। बीजिंग ने कोरियाई युद्ध में नई दिल्ली की मध्यस्थता की भूमिका और ताइवान पर चीन की स्थिति के लिए इसके स्पष्ट समर्थन की खुले तौर पर सराहना की।

1955 में बांडुंग एशियाई–अफ्रीकी सम्मेलन में चीनी प्रधान मंत्री झोउ एनलाई और उनके भारतीय समकक्ष जवाहरलाल नेहरू अपने सामाजिक आर्थिक विकास और विश्व शांति प्राप्त करने के लिए एशिया–अफ्रीकी एकजुटता के विचार को पारस्परिक रूप से बढ़ावा देकर सुर्खियों में आए। झोउ एनलाई 1954 में भारत आए थे और उसी वर्ष अक्टूबर में नेहरू बीजिंग गए थे। माओत्से तुंग सहित चीनी नेताओं के साथ आमने–सामने की बातचीत हुई।

विभिन्न माध्यमों से, बीजिंग और नई दिल्ली ने विभिन्न वैश्विक घटनाओं के बारे में उनके साझा विचारों को व्यक्त किया। बीजिंग और नई दिल्ली के बीच सौहार्दपूर्ण बातचीत को "हिंदी–चीनी– भाई भाई" (हिन्द और चीन भाई हैं) में स्पष्ट रूप से जोड़ा गया था। 1959 तक, भारतीय और चीनी मानचित्रों के विवाद और उनके बीच सीमा झड़पों और विसंगतियों के बावजूद, चीनी नेताओं ने भारत को सौहार्दपूर्वक आश्वासन दिया था कि सीमा पर कोई क्षेत्रीय विवाद नहीं था। हालांकि, चीन–भारतीय संबंधों के संक्षिप्त "स्वर्णिम" काल को सीमा मुद्दे की उनकी नकारात्मक धारणाओं से बाधित किया गया था।

भारत चीन संबंधों में तनाव और 1962 का भारत–चीन युद्ध

भारत और चीन के बीच सीमा विवाद पहली बार फिर से शुरू हुआ जब भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 1959 में बीजिंग का दौरा किया, जिसमें उन्होंने चीन के आधिकारिक नक्शे पर दिखाई गई सीमाओं के बारे में सवाल उठाया। इसके जवाब में, उनके समकक्ष झोउ एनलाई ने कहा कि चीन औपनिवेशिक शक्ति (ब्रिटेन) द्वारा खींची गई सीमा रेखा (मैकमोहन लाइन) को कभी स्वीकार नहीं करेगा।

इसी बीच तिब्बती लोगों के आध्यात्मिक और लौकिक गुरु दलाई लामा ने मार्च 1959 में धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश में अभयारण्य की मांग की, और हजारों तिब्बती शरणार्थी उत्तर–पश्चिमी भारत, विशेषकर हिमाचल प्रदेश में आ कर बस गए। पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना ने भारत पर तिब्बत और पूरे हिमालयी क्षेत्र में विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का आरोप लगाया। चीन ने 104,000 किमी क्षेत्र पर दावा किया, जिस पर भारत के नक्शे ने स्पष्ट संप्रभुता दिखाई, और पूरी सीमा के "सुधार" की मांग की। झोउ ने प्रस्तावित किया कि अक्साई चिन के लिए भारत के दावे को छोड़ने के बदले में चीन भारत के अधिकांश पूर्वोत्तर में अपना दावा छोड़ देगा। घरेलू जनमत से विवश भारत सरकार ने इस क्षेत्र के अपमानजनक और असमान होने के कारण नुकसान के आधार पर इस समझौते के विचार को खारिज कर दिया।

भारत और चीन के बीच अपनी सीमाओं के बीच के विवाद को शांतिपूर्ण तरीके से हल करने के राजनयिक प्रयासों के बावजूद जब इसका हल नहीं निकला तो 1962 में चीनी सेना ने चीन–भारत सीमा के पास इकट्ठा होना शुरू किया, और अंततः दोनों राज्यों के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में, हजारों भारतीय सैनिकों ने अपनी जान गंवाई और बीजिंग ने भारत से अक्साई चिन क्षेत्र छीन लिया, एक ऐसा क्षेत्र जो दोनों देशों के लिए रणनीतिक रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तिब्बत को पश्चिमी चीन से जोड़ता है।1962 के युद्ध के बाद से विवादित क्षेत्र के साथ भारतीय सशस्त्र बलों और चीनी सशस्त्र बलों के बीच कई बार अनैतिक गतिरोध हुए हैं। भारत की क्रमिक सरकारों ने

टिप्पणी

यह विचार रखा कि अक्साई चिन, शक्सगाम घाटी के साथ, वर्तमान में जो चीन के नियंत्रण में है, भारत का भाग है।

चीन ने भारत–पाकिस्तान के 1965 के युद्ध में पाकिस्तान का समर्थन किया। 1967 और 1971 के बीच, भारत द्वारा दावा किए गए क्षेत्र में एक सुरंग का निर्माण किया गया था, जो चीन के झिंजियांग उइगर स्वायत्त क्षेत्र को पाकिस्तान से जोड़ता है। भारत विरोध से ज्यादा कुछ नहीं कर सका। चीन ने भारत के खिलाफ सीमा क्षेत्रों में एक सक्रिय प्रचार अभियान जारी रखा और विशेष रूप से पूर्वोत्तर भारत में जनजातियों के लिए वैचारिक समूहों को वैचारिक, वित्तीय और अन्य सहायता प्रदान की।

नाथूला और चोला में भारत और चीन के बीच एक और खूनी संघर्ष देखा। यह क्षेत्र उत्तर–पूर्व भारत के रक्षा–राज्य सिक्किम में दो सबसे बड़े पर्वत मार्ग हैं। 1967 में, यह क्षेत्र भारत और चीन के बीच एक और संघर्ष का कारण बन गया, जहां भारतीय और चीनी सैनिकों के बीच गोलीबारी हुयी। जिसमे चीन ने दावा किया कि उसने चीनी सेना के 32 से ज्यादा 'अज्ञात संख्या' और भारतीय सेना के 101 को जवान मारे गए, जबकि भारत ने दावा किया कि उसने दोनों संघर्षों में अपने 88 सैनिकों को और चीन ने 340 सैनिको को खो दिया। 1975 में, अरुणाचल प्रदेश में दोनों देशों के बीच एक और लड़ाई हुई, जिसमें चार भारतीय सैनिकों की जान चली गई। नई दिल्ली ने बीजिंग पर भारतीय क्षेत्र में प्रवेश करने का आरोप लगाया।

इस प्रकार 1959 से 1976 तक के काल में दोनों देशों के मध्य दुश्मनी और शत्रुता में वृद्धि हुई जिसकी चरम परिणिती 1962 का भारत–चीन युद्ध था। हिंदी–चीनी भाई–भाई का धारणा निरर्थक सिद्ध हो गयी।

संबंधों के सामान्यीकरण के प्रयास (1976 –1988)

यह अवधि दोनों देशों के बीच एक "नए शुरुआत" की अवधि थी जिसके दौरान दोनों देशों ने संदेह और गलतफहमी को दूर करने एवं संबंधों के सामान्यीकरण के प्रयास किये। ये प्रयास मुख्य रूप से एक दूसरे को समझने के संदर्भ में थे ताकि दोनों देशों के मध्य मुख्य रूप से एक सकारात्मक माहौल बनाया जा सके। वर्ष 1976 भारत–चीन संबंधों के लिए एक महत्वपूर्ण वर्ष था क्योंकि दोनों देश अपने राजदूतों को बहाल करके अपने राजनयिक संबंधों को बहाल कर रहे थे।

दिसंबर 1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के बाद भारत और चीन ने संबंधों को सुधारने के प्रयासों को नए सिरे से शुरू किया। चीन ने कश्मीर पर अपने पाकिस्तान समर्थक रुख को संशोधित किया और भारत के सिक्किम के संयोजन और भूटान के साथ उसके विशेष सलाहकारी संबंधों पर चुप रहने के लिए तैयार दिखाई दिया। चीन के नेताओं ने सीमा मुद्दे और संबंधों को व्यापक बनाने के लिए चर्चा करने पर सहमति व्यक्त की। तिब्बत में कैलाश और मनसोवर झील, हिंदू धर्म के पौराणिक देवालय, भारत से वार्षिक तीर्थयात्राओं के लिए खोले दिए गए।

चीन के विदेश मामलों के मंत्री हुआंग हुआ को 1981 में भारत द्वारा आमंत्रित किया गया, जहां उन्होंने दक्षिण एशिया में भारत की भूमिका के बारे में प्रशंसात्मक टिप्पणी की। चीनी विदेश मंत्री हुआंग हुआ का भारत का दौरा न केवल उल्लेखनीय

था, बल्कि बहुत महत्वपूर्ण भी था क्योंकि इस समझौते के दौरान सहमति बनी थी कि दोनों पक्ष, भारत और चीन द्विपक्षीय वार्ता को फिर से शुरू करने के लिए एक स्तर पर आधिकारिक प्रतिनिधिमंडल का आदान–प्रदान करेंगे। हुआंग की यात्रा के बाद, भारत और चीन ने दिसंबर 1981 और नवंबर 1987 के बीच सीमा वार्ताओं के आठ दौर आयोजित किए। इन वार्ताओं ने उम्मीद बधाई कि सीमा मुद्दे पर तनाव को सुलझाने में प्रगति हो सकती है। हालांकि, 1985 में चीन ने सीमा पर अपनी स्थिति को सख्त कर लिया।

भारत द्वारा 1986 में अरुणाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा दिए जाने के बाद, चीन ने खुलकर विरोध किया और भारत की कार्रवाई का खंडन किया। एक बार फिर, स्थिति बिगड़ गई लेकिन दोनों पक्षों की द्विपक्षीय स्तर पर उच्च–स्तरीय चर्चाएं सामान्य स्थिति बहाल करने में सक्षम थीं। दिसंबर 1988 में राजीव गांधी की चीन यात्रा से संबंधों में मधुर रुझान आया। दोनों पक्षों ने एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी की जिसमें पंचशील के आधार पर मैत्रीपूर्ण संबंधों को बहाल करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। राजीव गांधी ने प्रत्यक्ष हवाई संपर्क और सांस्कृतिक आदान–प्रदान स्थापित करने के लिए नागरिक उड्डयन पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी सहयोग पर द्विपक्षीय समझौतों पर हस्ताक्षर किए। दोनों पक्षों ने विदेशी मंत्रियों के बीच वार्षिक राजनयिक परामर्श आयोजित करने, और आर्थिक और वैज्ञानिक सहयोग पर एक संयुक्त मंत्रिस्तरीय समिति और सीमा मुद्दे पर एक संयुक्त कार्य समूह गठित करने पर भी सहमति व्यक्त की।

इस प्रकार दोनों देशों ने लगभग सभी विवादास्पद मुद्दों पर चर्चा के लिए द्विपक्षीय आदान–प्रदान के द्वारा संबंधों में फिर से एक नयी शुरुआत और इसको नवीनीकृत करने का कार्य किया। अस्सी के दशक के बाद के काल ने दोनों देशों की समझ के संदर्भ में सुधार देखा और यह केवल संवाद के कारण संभव हुआ।

द्विपक्षीय संबंधों में नए वातावरण और विश्वास का युग (1988–1998)

यह काल दोनों देशों के मध्य संबंधों का अत्यंत महत्वपूर्ण काल माना जा सकता है। 1991 में चीनी प्रधानमंत्री ली पेंग द्वारा भारत की यात्रा की गई। यह फिर से एक ऐतिहासिक यात्रा थी, क्योंकि एक चीनी प्रधानमंत्री पिछले तीन दशकों से अधिक समय में भारत नहीं आया था। भारत और चीन दोनों ने ली पेंग की भारत यात्रा के दौरान पांच समझौतों पर हस्ताक्षर किए। ये पांच समझौते भारत और चीन के बीच वाणिज्य संधि से संबंधित थे, बॉम्बे और शंघाई में वाणिज्य दूतावास की बहाली पर समझौता, सीमा व्यापार की पुनर्धारण पर ज्ञापन , 1992 के लिए भारत–चीन व्यापार प्रोटोकॉल और भारत और चीन के विमानन मंत्रालयों द्वारा शांतिपूर्ण उपयोग के लिए एवं बाह्य अंतरिक्ष में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग।

दिसंबर 1988 और जून 1993 के बीच सीमा मुद्दे पर भारतीय–चीनी संयुक्त कार्य समूह की छह दौर की वार्ता हुई थी। विश्वास–निर्माण उपायों के माध्यम से सीमा पर तनाव को कम करने के लिए कोशिश भी की गई थी, जिसमें पारस्परिक सैन्य टुकड़ी में कटौती, स्थानीय सैन्य कमांडरों की नियमित बैठकें, और सैन्य अभ्यास की अग्रिम सूचना शामिल थीं। सितंबर 1993 में भारत के प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव की चीन यात्रा के दौरान वास्तविक नियंत्रण रेखा (एलएसी) पर भारत–चीन समझौते पर हस्ताक्षर ने

टिप्पणी

द्विपक्षीय संबंधों में एक नया तेवर ला दिया। भारत ने चीन के साथ एलएसी पर शांति और व्यवहार्यता के रखरखाव पर समझौता कर यह संकेत दिया कि शांतिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण बातचीत के माध्यम से सीमा मुद्दे को सौहार्दपूर्वक हल किया जाएगा। इस समझौते में निहित था कि न तो किसी भी पक्ष को बल का उपयोग करना चाहिए और न ही दूसरे के खिलाफ बल प्रयोग करने की धमकी देनी चाहिए। सीमा मुद्दे के निपटारे से पहले दोनों पक्षों को LAC का सख्ती से सम्मान करना चाहिए और निरीक्षण करना चाहिए और प्रत्येक पक्ष को LAC के साथ के क्षेत्रों में अपने सैन्य बलों को न्यूनतम स्तर पर रखना चाहिए। यह निश्चित रूप से भारत – चीन संबंधों के एक नए युग में प्रवेश था।

संबंध सुधार के अन्य संकेत तब बने जब 1996 में चीनी राष्ट्रपति जियांग जेमिन ने भारत का दौरा किया। इसने बहुत सकारात्मक माहौल बनाने का कार्य किया। जियांग की यात्रा के दौरान, भारत और चीन ने चार महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किए थे–

क) भारत में चीन की सीमावर्ती क्षेत्रों में LAC के साथ सैन्य तैनाती के क्षेत्र में विश्वास निर्माण उपायों (CBMs) पर समझौता;

ख) चीन के हांगकांग विशेष प्रशासनिक क्षेत्र में भारत के महावाणिज्य दूतावास के रखरखाव से संबंधित समझौता;

ग) ड्रग्स और अन्य संबंधित मुद्दों में अवैध तस्करी से निपटने के लिए सहयोग पर समझौता; और

घ) समुद्री परिवहन पर समझौता।

विश्वास निर्माण उपायों पर समझौते में बहुत अधिक प्रमुखता प्राप्त की क्योंकि इसमें यह स्पष्ट किया गया था कि सीमा के प्रश्न का उचित, तर्कसंगत और पारस्परिक रूप से स्वीकार्य समाधान किया जाएगा। यह महत्वपूर्ण भी था क्योंकि इस बात पर भी सहमति जाहिर की गयी कि कोई देश दूसरे के खिलाफ अपनी सैन्य क्षमता का उपयोग नहीं करेगा।

1998 के बाद और भारत–चीन के संबंधों में विकसित प्रवृतियां

भारत द्वारा मई 1998 में परमाणु विस्फोट की चीन द्वारा बहुत आलोचना की गयी। इसलिए, सामान्यीकरण की प्रक्रिया, जो वर्षों से चल रही थी, पटरी से उतर गई। चीन भारत के परमाणु परीक्षण का मुखर विरोधी था और उसने सशक्त तौर पर यह कहा कि परमाणु परीक्षण अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्ति के खिलाफ है। परमाणु मुद्दे ने कुछ समय के लिए भारत–चीन संबंधों में एक अड़चन पैदा किया, जिसने वास्तव में द्विपक्षीय संबंध को सीमित कर दिया। हालांकि, दोनों पक्ष नौ महीने की अवधि में एक बार फिर से बातचीत शुरू करने में सक्षम थे।

1999 में तत्कालीन विदेश मंत्री जसवंत सिंह और 2003 में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा किए गए दौरे ने सहयोग के लिए कई नए द्वार खोले। सीमा का मुद्दा हमेशा विश्वास और विश्वास के निर्माण में तथा व्यापार और वाणिज्य से संबंधित मुद्दों में एक बाधा रहा था। सिक्किम में नाथू ला सहित व्यापार के लिए सीमा क्षेत्रों के उद्घाटन ने वास्तव में भारत में एक महत्वपूर्ण बदलाव का संकेत दिया । यह पारी एक तरह से सिक्किम को भारत के एक हिस्से के रूप में मान्यता देती थी। नाथुला दर्रे के

माध्यम से सीमा व्यापार को फिर से खोलने से निश्चित रूप से एशिया की इन दो उभरती हुई आर्थिक शक्तियों के बीच अधिक से अधिक आर्थिक संबंध बनाने में मदद मिली। प्रीमियर वेन जियाबाओ की अप्रैल 2005 की यात्रा के दौरान, दोनों पक्षों ने शांति और समृद्धि के लिए एक रणनीतिक और सहकारी भागीदारी की स्थापना की और राजनीतिक मानदंड और मार्गदर्शक सिद्धांतों पर एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

यहां इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि चीनी राष्ट्रपति हू जिंताओ की 2006 में भारत यात्रा और 2009 में भारतीय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की चीन यात्रा दोनों पक्षों में बढे अविश्वास के कारण द्विपक्षीय रिश्तों पर ज्यादा असर नहीं डाल सकी। हालांकि, सामरिक भागीदारी को बढ़ाने के लिए एक 10–बिंदु रोडमैप तैयार किया गया था। पिछले कुछ वर्षों में, चीन ने भारत और चीन की सीमाओं पर कई बार गुप्त रूप से खुद को उलझाया है और कई भारत विरोधी कार्य करता रहा है। नेपाल में कई चीन–अध्ययन केंद्रों के खुलने, काठमांडू में चल रहे जटिलता में माओवादियों को इसके समर्थन और भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा पर इसके व्यापक प्रभाव ने भारत के चीन के लिए बढ़ते अविश्वास को और बढ़ा दिया।

चीनी राष्ट्रपति श्री शी जिनपिंग की 17 से 19 सितंबर, 2014 तक भारत की राजकीय यात्रा के दौरान, वाणिज्य और व्यापार, रेलवे, स्पेस–कूपन, फार्मास्यूटिकल्स, ऑडियो–विजुअल सहयोग, संस्कृति सहित विभिन्न क्षेत्रों में कुल 16 समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। दोनों पक्षों ने नाथू ला के माध्यम से कैलाश मानसरोवर यात्रा के लिए एक अतिरिक्त मार्ग खोलने के लिए एक समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए। चीनी पक्ष ने भारत में दो चीनी औद्योगिक पार्क स्थापित करने पर सहमति व्यक्त की और इसे बढ़ाने का इरादा व्यक्त किया। 14–16 मई, 2015 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने चीन का दौरा किया। चीन के नेतृत्व के साथ बैठक के अलावा, प्रधान मंत्री मोदी और प्रीमियर ली ने बीजिंग में प्रथम प्रांतीय नेताओं के मंच के उद्घाटन सत्र को भी संबोधित किया। सरकार–सरकार की ओर से 24 समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए।नेतृत्व स्तर पर बैठकों की गति 2016 में भी जारी रही। राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने 24 से 27 मई, 2016 तक चीन की राजकीय यात्रा की। उन्होंने ग्वांगडोंग और बीजिंग का दौरा किया जहां उन्होंने चीनी नेतृत्व के साथ मुलाकात की।

दोनों के बीच तनाव एक बार पुनः तब बढ़ गया जब 2017 में, भारत और चीन का भूटान के डोकलाम क्षेत्र में एक और टकराव हुआ। चीन ने क्षेत्र में सड़कों का निर्माण शुरू किया था और भारतीय सैनिकों ने उन्हें रोकने की कोशिश की थी। घटना में किसी के हताहत होने की सूचना नहीं है। डोकलाम की ऊंचाई का स्थान भारत के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारत को उसके पूर्वोत्तर पड़ोसियों से जोड़ता है। सितंबर 2019 में पैंगोंग त्सो (झील) के पास एक और हिंसक झड़प हुई, जिस क्षेत्र पर चीन का दो तिहाई नियंत्रण है।

सबसे हाल के विवादों मई 2020 में हुई झड़प शामिल है जिसमे दोनों देशों के सैनिक मारे गये और घायल हुए हैं। इसका समाधान स्थानीय ब्रिगेडियर–स्तरीय सेक्टर कमांडरों द्वारा किया गया जो तनावों पर चर्चा करने और एक प्रस्ताव पर आने में सक्षम थे। हालांकि, जून में हुई झड़प में 20 भारतीय सैनिक मारे गए और 40 (अपुष्ट सूत्रों के अनुसार) चीनी हताहत हुए। जुलाई 2020 के अंत तक, यह माना जा रहा था

टिप्पणी

कि सीमा क्षेत्र से सैनिक वापस हो जायेंगे। हालांकि, ऐसा हुआ नहीं और अगस्त और सितंबर 2020 के दौरान, भारतीय सैनिकों को एलएसी के साथ तैनात करना जारी था।

40 साल से अधिक समय से दोनों देशों की झड़पों में कोई गोलियां नहीं चलाई गईं क्योंकि वास्तव में सीमावर्ती कोड जो कि आग्नेयास्त्रों के उपयोग को प्रतिबंधित करता है। हालांकि, यह सितंबर में बदल गया जब पहली बार ऐसा हुआ। ऐसा लगता है, 2019 में भारत की धारा 370 को रद्द करने और सीमा पर भारत की बुनियादी ढांचा योजनाओं के खिलाफ चीन के प्रतिरोध के बाद से दोनों देशों के मध्य तनाव पैदा हो रहा है। भारत ने चीन के साथ अपने कई आर्थिक समझौते रद्द कर दिए हैं और चीनी ऐप एवं वस्तुओं पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है।

हालिया गतिरोध को अल्पकालिक और अस्थायी घटनाओं के रूप में रेखांकित कर सकते हैं। हालांकि, क्षेत्रीय सीमा विवाद सुलझते नहीं तो संबंधों में खटास बनी रह सकती है जिससे इससे दोनों देशों के आर्थिक संबंधों पर प्रभाव पड़ सकता है। लंबे समय तक संकट को रोकने के लिए, चीन को भारत के साथ शांतिपूर्ण वार्ता के माध्यम से अपनी आक्रामक स्थिति को स्वेच्छा से वापस लेने की आवश्यकता होगी। भारत चीनी सेना को हटाने का प्रयास करेगा। इसके अलावा, भारत को सावधानी के साथ चलना चाहिए क्योंकि श्रीलंका और नेपाल सहित पड़ोसी देश में चीन के प्रति समर्थन बढ़ा है। दूसरे शब्दों में, जब तक भारत और चीन एक–दूसरे पर भरोसा करने का तरीका नहीं खोज लेते, तब तक यह बहुत संभावना है कि वे एक बार फिर युद्ध की कगार पर पहुंच जाएंगे।

इस प्रकार चीन और भारत दोनों देश सहयोग उनके पारस्परिक लाभ के लिए काम कर सकते हैं। दोनों के बीच कोई भी संघर्ष न केवल उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरे में डालेगा, बल्कि क्षेत्रीय और वैश्विक सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी गंभीर निहितार्थ लिए होगा। चीन–भारतीय संबंध हमेशा बहुपक्षीय क्षेत्रीय और वैश्विक आयामों के साथ जटिल रहे हैं, जिन्होंने अपने द्विपक्षीय संबंधों को और जटिल बनाया है। यह तथ्य है कि वे पड़ोसी और भू–राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी हैं जिन्हें एक–दूसरे से अधिक लाभ उठाना है। चीन–भारतीय संबंध, राष्ट्रीय सामरिक हितों की प्रधानता और वैश्विक प्रभाव की खोज के रूप में संचालित होते आये है और अपने प्रतिस्पर्धात्मक हितों से विविध खींचतान और दबावों के अधीन बने रहे हैं।

5.2.3 रूस के साथ संबंध

भारत और रूस के बीच संबंध इतिहास, आपसी विश्वास और पारस्परिक रूप से लाभप्रद सहयोग में निहित हैं। दोनों देशों के मध्य एक रणनीतिक साझेदारी रही है, जो समय की कसौटी पर खरा उतरी है और जिसे दोनों देशों के लोगों का समर्थन प्राप्त है। आज अधिकांश विश्लेषक इस बात से सहमत हैं कि दोनों देशों के संबंध इस हद तक प्रगाढ़ हैं कि उन्हें किसी परिक्षण की आवश्यकता नहीं है। पिछले कई दशकों में, और विशेष रूप से सोवियत संघ के समय, भारत–रूस संबंधों को उच्च स्तर के राजनीतिक और रणनीतिक विश्वास द्वारा चिह्नित किया गया था। शीतयुद्ध काल के बाद के समय में भारत और रूस अंतरराष्ट्रीय मामलों में संभावित वैश्विक खिलाड़ी के रूप में तेजी से उभर रहे हैं। दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय संपर्क एक व्यापक जुड़ाव

टिप्पणी

में बदल रहा है। इसके अतिरिक्त, दोनों देशों ने जटिलताओं, मुद्दों और चुनौतियों के बावजूद साझेदारी में काफी लचीलापन और समझ प्रदर्शित की है, जो न केवल पारस्परिक संदर्भ में बल्कि वर्तमान अंतरराष्ट्रीय प्रणाली के संदर्भ में भी सामने आया है।

भारत–रूस संबंध के पांच मूलभूत स्तंभ :

- विश्व के प्रति समान राजनीतिक और रणनीतिक धारणा;
- गहन सैन्य–तकनीकी सहयोग;
- मजबूत आर्थिक बंधन;
- विज्ञान और प्रौद्योगिकी में गहरा संबंध;
- लोगों से लोगों का और सांस्कृतिक जुड़ाव।

भारत –रूस संबंधों का विकास

भारत की स्वतंत्रता से कुछ समय पहले से ही भारत–रूस संबंधों की जड़ें तैयार हो चुकी थी लेकिन दोनों देशों के बीच नजदीकी 1960 और 1970 के दशक में आयी। स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू सोवियत संघ के समाजवादी विचारधारा और तेजी से आर्थिक परिवर्तन के प्रशंसक थे। हालांकि, 1953 में जोसेफ स्टालिन की मृत्यु के बाद, सोवियत संघ ने भारत के साथ "मैत्रीपूर्ण सहयोग" की इच्छा जताई। इसको सोवियत द्वारा अपने अंतरराष्ट्रीय संपर्कों को व्यापक बनाने और एशिया और अफ्रीका के गैर–गठबंधन और नए स्वतंत्र देशों के साथ संबंध विकसित करने के रूप में देखा गया। जून 1955 में नेहरू की सोवियत संघ की राजकीय यात्रा भारतीय प्रधानमंत्री के रूप में अपनी तरह की पहली यात्रा थी। इसके बाद क्रमशः नवंबर और दिसंबर 1955 में प्रीमियर निकोलाई बुलगानिन और महासचिव निकिता ख्रुश्चेव की भारत यात्रा हुई। सोवियत नेताओं ने पंचशील पर आधारित भारतीय विदेश नीति की पूरी तरह समर्थन किया और कश्मीर पर पाकिस्तान के खिलाफ भारत की स्थिति का समर्थन किया। सोवियत संघ ने गोवा पर भी भारत की स्थिति का समर्थन किया, जो दिसंबर 1961 में भारतीय सशस्त्र बलों द्वारा एक संघीय क्षेत्र के रूप में भारत में एकीकृत किया गया था (यह मई 1987 में एक राज्य बन गया)।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद की अवधि में भारत के लिए लक्ष्य भारी उद्योग में निवेश के माध्यम से आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना था। सोवियत संघ ने भारी मशीन–निर्माण, खनन, ऊर्जा उत्पादन और इस्पात संयंत्रों के क्षेत्रों में कई नए उद्यमों में निवेश किया। भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान, स्थापित किए गए सोलह भारी उद्योग परियोजनाओं में से आठ सोवियत संघ की मदद से शुरू किए गए थे। इसमें विश्व प्रसिद्ध आईआईटी बॉम्बे की स्थापना शामिल थी। इस रिश्ते के शुरुआती वर्षों में, भारत ने अपने मुख्य उद्योगों को विकसित करने और भविष्य के विकास की नींव रखने में सोवियत संघ से बहुत कुछ हासिल किया। रक्षा, अंतरिक्ष और परमाणु ऊर्जा के क्षेत्रों में के विकास में भी सोवियत पूंजी लगायी गयी । भारत के पास पूंजी, विदेशी मुद्रा और प्रौद्योगिकी की कमी थी। सोवियत संघ ने भारत के विकास की कहानी में इस कमी को पूरा कर दिया।

टिप्पणी

यूएसएसआर के साथ भारत के संबंधों ने भारत को अधिक आत्मनिर्भर बनने में कई तरह से मदद की। सोवियत सहायता को दीर्घकालिक, सरकार–से–सरकारी कार्यक्रमों के आधार पर भी बढ़ाया गया था, जो भारतीयों के लिए तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चे माल की आपूर्ति, भारतीय आदानों के प्रगतिशील उपयोग और तैयार उत्पादों के लिए बाजारों के क्रमिक चरणों को सम्मिलित करता था। गैर–परिवर्तनीय राष्ट्रीय मुद्राओं में द्विपक्षीय व्यवस्था की गई, जिससे भारत के दुर्लभ विदेशी मुद्रा के संरक्षण में मदद मिली। इन कारकों ने भारत को मॉस्को के करीब लाया।

शीत युद्ध काल में भारत– रूस संबंध

शीत युद्ध काल के दौरान, भारत जम्मू और कश्मीर सहित कई क्षेत्रों में अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा करने के लिए सोवियत संघ पर निर्भर था। इस दौरान भारत और रूस के बीच सैन्य–तकनीकी सहयोग द्विपक्षीय संबंधों का केंद्र बिंदु रहा और आने वाले वर्षों में भी महत्वपूर्ण बना रहा। भारत और रूस ने समान राजनीतिक और सामरिक दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित किया। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की स्थिति इस तथ्य से प्रभावित हुई थी कि सोवियत संघ कश्मीर पर भारत का सकारात्मक पक्ष रखेगा।

1960 के दशक में सैन्य संबंधों की शुरुआत भारत द्वारा सोवियत संघ से रक्षा उपकरणों की खरीदारी से शुरू हुयी। यह उपकरण अपेक्षाकृत कम खर्चीला थे और रुपये और विलम्बित भुगतानों पर दिए गए और साथ ही बहुत कम ब्याज दरों पर भी। पहली बड़ी खरीद भारत द्वारा मिग –21 विमान थी, और यूएसएसआर ने भारत को लाइसेंस प्राप्त उत्पादन की अनुमति दी, जो सोवियत द्वारा किसी अन्य देश के लिए नहीं किया गया था। बहुत जल्द, भारत के सैन्य उपकरणों का बढ़ता प्रतिशत सोवियत मूल का था। इन उपकरणों का उन युद्धों में प्रभावी ढंग से इसका उपयोग किया गया जो भारत को इस दौरान झेलने पड़े थे।

भारत और उसके पड़ोसियों के बीच सुरक्षा संकट के दौरान, 1960 के दशक में नेहरू ने भारत–चीन सीमा विवाद पर तटस्थता की सोवियत प्रतिबद्धता प्राप्त की, विशेषकर 1962 के भारत–चीन युद्ध के दौरान। 1965 के भारत–पाकिस्तान युद्ध के दौरान, सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में संघर्ष विराम लाने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ काम किया। पाकिस्तान के साथ 1965 के युद्ध के बाद, भारत–सोवियत संघ ने ताशकंद संधि (10 जनवरी, 1966) पर हस्ताक्षर ने दोनों देशों के बीच संबंधों को मजबूत किया।

तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान से 1971 में जब 10 मिलियन शरणार्थी पाकिस्तानी प्रकोप से बचने के लिए भारत भाग कर आये तो उस समय भारत पाकिस्तान का तनाव चरम पर था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने खुले तौर पर पाकिस्तान का पक्ष लिया और यहां तक कि यूएसए एंटरप्राइज विमान वाहक को बंगाल की खाड़ी में तैनात कर दिया। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में दोस्ती और सहयोग की "भारत–सोवियत संधि "(अगस्त 1971 में हस्ताक्षरित) एक साहसिक कदम था जिसने अमेरिकियों और चीनी को भी प्रत्यक्ष कार्रवाई से दूर रखा। इस संधि में दोनों देशों के साझा लक्ष्यों के साथ–साथ क्षेत्रीय और वैश्विक शांति और सुरक्षा के खाके का प्रकटीकरण था। इसके बाद, यह लगभग मान लिया गया कि यूएसएसआर भारत का समर्थन करेगा भले ही

टिप्पणी

भारत गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) के प्रमुख देश में से एक रहे। इस तरह का समर्थन संयुक्त राष्ट्र और अन्य बहुपक्षीय मंचों पर अक्सर ही प्रकट होता रहा है।

यहां तक कि जब दोनों के कुछ मतभेद थे, तो इन्हें द्विपक्षीय रूप से प्रबंधित किया गया और सार्वजनिक रूप से आवाज नहीं दी गई। 1970 के दशक में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप और परमाणु हथियारों के गैर–लाभकारी क्षेत्र (एनपीटी) संधि पर दोनों देशों के के अलग–अलग विचार सार्वजनिक डोमेन से बाहर रखे गए और केवल उच्चतम राजनीतिक स्तरों पर इसकी चर्चा की गई है।

दोनों देशों के मध्य सैन्य–तकनीकी सहयोग इन वर्षों में असाधारण स्तर पर मजबूत दिखा। रूस ने विमान से टैंक तक सैन्य प्लेटफार्मों पर भारत को पूरी तरह सहायता प्रदान की हैं। भारतीय नौसेना का विकास, विशेष रूप से पनडुब्बी बेड़े का, रूसी सहयोग के माध्यम से काफी बढ़ा है। 1980 के दशक में, सोवियत संघ द्वारा भारत को परमाणु–संचालित पनडुब्बी के अभूतपूर्व पट्टे को दोनों देशों द्वारा साझा किए गए अद्वितीय रणनीतिक विश्वास के अनुस्मारक के रूप में देखा जा सकता है।

सोवियत संघ, अपने पतन तक, भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार था। यह सोवियत मुद्रा और विशेषज्ञता थी जो भारत के कई घरेलू उद्योगों की नींव थी जिनमें धातु विज्ञान, खनन, और तेल और गैस तथ्य शामिल थे। यूएसएसआर ने इराक के साथ स्वैप सौदों के माध्यम से भारत की ऊर्जा सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दिया, यह सुनिश्चित करते हुए कि भारत ने ऊर्जा के लिए तत्कालीन कीमती विदेशी मुद्रा का कम से कम भुगतान किया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी सहयोग और सांस्कृतिक आदान–प्रदान में भी यही स्थिति थी। दोनों के संबंधों के उच्च बिंदु भारत के पहले अंतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा भी थे। नब्बे का दशक दोनों देशों के लिए एक कठिन समय था। 1990 में, भारत ने तकनीकी ऋण के रूप में USSR को ऋण दिया और 1991 में, भारत ने खाद्य ऋण और 20,000 टन चावल का उपहार दिया।

शीत युद्ध के बाद भारत रूस संबंध

भू–राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ ही सोवियत–विघटन के बाद का समय भारत और रूस के बीच द्विपक्षीय संबंधों के लिए एक परीक्षा काल था। दोनों देश के अपने–अपने आर्थिक और राजनीतिक मुद्दें थे। 1990 के दशक में भारत–रूस संबंधों की आर्थिक गतिविधियों में शायद सबसे खराब वर्ष थे, सांस्कृतिक सहयोग में गिरावट आई, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग कम हुआ था। एकमात्र क्षेत्र जो सोवियत संघ के पतन के बाद भी बच गया वह था दोनों देशों के दुनिया के रणनीतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण में साझा प्रतिमान।

सोवियत काल में, यूएसएसआर की राजनीतिक, सैन्य और आर्थिक नीतियों को साम्यवादी ढांचे की के माध्यम से देखा गया था। लेकिन 1991 के रूसी विदेश और सुरक्षा नीति ढांचे के साम्यवादी विचारधारा से दूर होने के बाद, यह रूस के आर्थिक हित थे जिसने विचारधारा को पार कर लिया जिसने भारत जैसे देशों के लिए दृष्टिकोण को बदल दिया। यथार्थवादी संबंधों और अर्थशास्त्र पर जोर देने के साथ दोनों पक्षों के वैध हितों के आधार पर द्विपक्षीय संबंधों को कुछ व्यावहारिक नवीनीकरण (1991 में भारत का उदारीकरण भी दिया गया था) से गुजरना पड़ा।

टिप्पणी

सोवियत संघ के विघटन के बाद, भारत और रूस ने जनवरी 1993 में मित्रता और सहयोग की एक नई संधि और 1994 में एक द्विपक्षीय सैन्य–तकनीकी सहयोग समझौते पर हस्ताक्षर किया। 2000 में, राष्ट्रपति पुतिन की भारत यात्रा के दौरान, दोनों देशों के बीच साझेदारी ने रणनीतिक भागीदारी का एक नया गुणात्मक चरित्र प्राप्त किया। रणनीतिक साझेदारी ने भारत के प्रधानमंत्री और रूस के राष्ट्रपति के बीच वार्षिक बैठकों को संस्थागत रूप दिया और तब से नियमित रूप से बैठकें आयोजित की जाती हैं। सोवियत संघ के पतन के बाद भारत–रूस संबंधों में उल्लेखनीय सुधार हुआ है।

अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों देशों के समान स्थिति हैं और उनके कार्यों में समन्वय है। दोनों संयुक्त राष्ट्र, ब्रिक्स और जी –20 समूहों के साथ–साथ आसियान और पूर्वी एशिया शिखर सम्मेलन फोरम जैसे एशिया प्रशांत क्षेत्र में विभिन्न संरचनाओं में सहयोग करते हैं। रूस ने एससीओ को भारत की सदस्यता का समर्थन किया और भारत को 2017 में एससीओ के पूर्ण सदस्य के रूप में सम्मिलित किया गया।

भारत–रूस द्विपक्षीय संबंधों के बढ़ते रणनीतिक आयामों को वैश्विक और क्षेत्रीय स्तरों पर सुरक्षा हितों को परिवर्तित करने में रूप में रखा गया है। भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में बहु–ध्रुवीयता, बहुपक्षवाद और सुधारों के लिए रूस के आह्वान का समर्थन करता है। रूस सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता के लिए भारत की उम्मीदवारी का समर्थन करता है क्योंकि भारत अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में अपने लिए एक बड़ी भूमिका चाहता है।

रूस और भारत दोनों एक बहुध्रुवीय दुनिया की अवधारणा का समर्थन करते हैं, एक विचार जो चीन और कई अन्य लोगों द्वारा साझा किया गया है। यह दृष्टि अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में कई शक्तियों और संभावनाओं के सह–अस्तित्व का समर्थन करती है; एक सामूहिक सुरक्षा की बात करती जो समावेशी है; यह सामान्य क्षेत्रीय हित को बढ़ावा देने के लिए अधिक से अधिक क्षेत्रवाद का समर्थन करता है; स्वतंत्र विदेश नीति की संभावना का समर्थन करता है; और यह भी कि संयुक्त राष्ट्र की तरह निकायों के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय निर्णय किए जाने चाहिए जो मजबूत, लोकतांत्रिक और सशक्त हों। यह एक उभरते हुए रूस पर निर्भर करता है जो महाशक्ति का दर्जा चुका है और एक बढ़ता हुआ भारत जो संयुक्त राष्ट्र में स्थायी सदस्यता की आकांक्षा रखता है और वैश्विक क्षेत्र में स्थिति को मजबूत करना चाहता है।

भारत–रूस संबंध वर्तमान में रक्षा संबंध से संयुक्त अनुसंधान, और उत्पादन के साथ खरीदार–विक्रेता प्रतिमान से अधिक सहकारी संबंध के रूप में आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। टैंक और मिसाइलों (टी –90 और ब्रह्मोस), जहाजों और पनडुब्बियों, विमान–वाहक विक्रमादित्य और परमाणु पनडुब्बी (अरिहंत), जेट फाइटर और सुखोई का निर्माण और आपूर्ति ये सभी इस तरह के सहयोग के उदाहरण हैं। वर्तमान में रूस 'मेक इन इंडिया' कार्यक्रम में भागीदार बनने के लिए प्रतिबद्ध है।

भारत और रूस ने ऐतिहासिक रूप से सांस्कृतिक क्षेत्र में संबंधों का आदान –प्रदान किया है। भारत के भव्य महाकाव्य, 'महाभारत' का रूसी भाषा में अनुवाद किया गया है। इसी तरह, लियो टॉल्स्टॉय, अलेक्जेंडर पुश्किन और अन्य रूसी साहित्य और विचारकों का भारतीय साहित्य और विचार में गहरा प्रभाव और योगदान रहा है। रूस

टिप्पणी

में भारतीय फिल्में बड़ी लोकप्रिय रही हैं। रूस में योग 1980 के दशक से बढ़ रहा है और तेजी से लोकप्रिय हो रहा है, खासकर प्रमुख शहरों और शहरी केंद्रों में।प्रमुख विश्वविद्यालयों और स्कूलों सहित रूसी संस्थान नियमित रूप से रूसी छात्रों को हिंदी पढ़ाते हैं। हिंदी के अलावा, तमिल, मराठी, गुजराती, बंगाली, उर्दू, संस्कृत और पाली जैसी भाषाएं रूसी संस्थानों में पढ़ाई जाती हैं। विभिन्न रूसी विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद और समकालीन भारतीय अध्ययनों की व्यवस्था भी की गई है। विद्वान और छात्र को आदान–प्रदान, संस्कृति उत्सव और कला प्रदर्शन, भारत में रूस के वर्ष का पालन और रूस में भारत के वर्ष का इत्यादि ने दोनों देशों के सांस्कृतिक संबंधों को मजबूती प्रदान की है।

भारत–रूस ऊर्जा सहयोग ने विशेष रूप से हाइड्रोकार्बन और परमाणु क्षेत्र में नए आयाम हासिल किए हैं। रूस भारत को उन्नत परमाणु प्रौद्योगिकी के साथ एक जिम्मेदार देश के रूप में मान्यता देता है। रोसाटॉम तमिलनाडु में कुडनकुलम स्थल पर परमाणु रिएक्टरों की छह इकाइयों का निर्माण कर रहा है। दो इकाइयां पहले से ही चालू हैं और अगले चार कार्यान्वयन के विभिन्न चरणों में हैं। यह 2014 में राष्ट्रपति पुतिन और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के बीच हस्ताक्षरित "स्ट्रैटेजिक विजन" दस्तावेज के अनुरूप है। भारत आगामी और भविष्य में रूसी द्वारा डिज़ाइन किए गए परमाणु ऊर्जा परियोजनाओं के लिए उपकरणों और घटकों के भारत में स्थानीय विनिर्माण को बहुत अधिक महत्व दे रहा है।

व्यापार के मोर्चे पर, दोनों देशों को और काम किये जाने की आवश्यकता है। परमाणु प्रौद्योगिकी, रक्षा, ऊर्जा और हाइड्रोकार्बन में रूस की विशेषज्ञता प्राप्त करने के दौरान भारत को अपने शक्ति क्षेत्रों (आईटी/आईटीईएस, फार्मास्यूटिकल्स और स्वास्थ्य सेवा जैसे क्षेत्रों) के निर्यात पर ध्यान केंद्रित करना है ताकि मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया और स्मार्ट सिटीज जैसे प्रयास में भारत–रूस द्विपक्षीय संबंधों का साथ मिलें।

भारत–रूस द्विपक्षीय संबंधों में वर्तमान में कुछ उभरती हुई चिंताएं भी हैं। जिसमें से सबसे महत्वपूर्ण पाकिस्तान है। भारत वर्तमान में पश्चिम के करीब आ रहा है। रूस ने हथियारों की बिक्री के लिए एक मामूली रूप में ही, पाकिस्तान को अपनी 'आतंकवाद विरोधी क्षमताओं' को बढ़ाने में मदद करने की इच्छा व्यक्त की है। भारत ने बार–बार रूस से पाकिस्तान को हथियार न बेचने के लिए कहा है।

भारत अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया के साथ चतुर्भुज सुरक्षा वार्ता (क्वाड) का भी हिस्सा है, जो भारत–प्रशांत क्षेत्र में शक्ति का एक व्यावहारिक संतुलन बनाने की मांग करता है जिसके लिए रूस कुछ भौहें उठाता है। रूस को भी चीन के साथ सहयोग करने वाला कहा जाता है। रूस ने भारत को चीन की बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव में शामिल होने का भी सुझाव दिया। रूस ने अफगान तालिबान को वैधता देने में पाकिस्तान और चीन को शामिल करने में भी तत्परता दिखाई।

भारत हथियारों का सबसे बड़ा बाजार है और रूस पारंपरिक आपूर्तिकर्ता रहा है। किंतु भारत अब रक्षा और हथियारों की खरीद फरोख्त के किये अमेरिका, फ़्रांस इजराइल जैसे पश्चिम देशों की ओर देख रहा है, और इस वजह से रूस नए

टिप्पणी

सहयोगियों और बाजारों को ढूंढ रहा है क्योंकि वह थोड़ा अलग–थलग महसूस करता है। हलाकि भारत अभी भी रूस पर पर्याप्त रूप से निर्भर है।

तथ्य यह है कि रूस लंबे समय से भारत का महत्वपूर्ण साझेदार रहा है। रूस के साथ द्विपक्षीय संबंध भारत की विदेश नीति की आधारशिला हैं और यह सामायिक चिंताओं के बावजूद भी जारी रहने की संभावना है। दोनों देशों के बीच एक मजबूत आर्थिक और रणनीतिक संबंधों के साथ ही एक एक राजनीतिक समझ है, जो निरंतर विकसित होती आयी है।

वर्तमान में दोनों देशों की कुछ चिंताएं हैं कि भारत पश्चिम की ओर देख रहा है और दक्षिण एशियाई क्षेत्र में पाकिस्तान के लिए अमेरिकी धारणा को बदलने की कोशिश कर रहा है क्योंकि भारत पश्चिमी रक्षा उपकरणों (हवाई जहाजों सहित) की इच्छा रखता है और रूस अफगानिस्तान और मध्य एशिया में अमेरिका का मुकाबला करने के लिए पाकिस्तान को आगे कर रहा है। इन चिंताओं के बावजूद, यदि दोनों देश संतुलन का खेल खेलते रहेंगे तो द्विपक्षीय संबंध बने रहेंगे।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संयुक्त राष्ट्र संघ ने किस वर्ष को रंगभेद के विरुद्ध अंतरर्राष्ट्रीय वर्ष के रूप में घोषित किया?

   (क) सन् 1961 (ख) सन् 1971

   (ग) सन् 1981 (घ) सन् 1991

2. भारत–सोवियत संघ ने ताशकंद संधि पर कब हस्ताक्षर किए?

   (क) 10 जनवरी, 1966 (ख) 15 जनवरी, 1966

   (ग) 20 जनवरी, 1966 (घ) 25 जनवरी, 1966

3. भारत को एससीओ के पूर्ण सदस्य के रूप में कब सम्मिलित किया गया?

   (क) सन् 2015 (ख) सन् 2016

   (ग) सन् 2017 (घ) सन् 2019

5.3 समकालीन मुद्दे

भारत की विदेशी नीति के समकालीन मुद्दों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

5.3.1 मानवाधिकार

अंतरराष्ट्रीय राजनीति को पारंपरिक रूप से मुख्यतः राज्यों के संदर्भ में देखा गया है। इसलिए व्यक्तिगत जरूरतों और रुचियों को आम तौर पर 'राष्ट्रीय हित' की विशाल धारणा के अंतर्गत ही रखा गया है। नतीजतन, अंतरराष्ट्रीय राजनीति काफी हद तक राज्यों के बीच और सत्ता के लिए संघर्ष के रूप में जानी जाती है। लोगों और व्यक्तियों के सुख, दुख और सामान्य भलाई के संदर्भ में नैतिकता को इससे से बाहर कर दिया गया। हालांकि, राज्य की नीति और व्यक्ति के बीच और इस प्रकार शक्ति और नैतिकता के बीच अलगाव को बनाए रखना धीरे–धीरे मुश्किल हो गया है।

मानवाधिकार अनिवार्य रूप से नैतिक या दार्शनिक दावे हैं, लेकिन 1948 के बाद इसे कानूनी उपाय के एक अर्थ के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। मानव अधिकार, सबसे मूल रूप से, वे अधिकार हैं जो उसे मानव होने के नाते मिले हैं। वे इसलिए 'सार्वभौमिक' अधिकार हैं, कि वे किसी विशेष राष्ट्र, जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक वर्ग के सदस्यों के बजाय सभी मनुष्यों से संबंधित हैं। मानवाधिकार ऐसे मानक हैं जो सभी लोगों को सम्मान, स्वतंत्रता, समानता, न्याय और शांति के साथ रहने की अनुमति देते हैं। सार्वभौमिक मानवाधिकारों को अक्सर संधियों, प्रथागत अंतरराष्ट्रीय कानून, सामान्य सिद्धांतों और अंतरराष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतों के रूप में कानून द्वारा व्यक्त और आश्वस्त किया जाता है। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून, मानव अधिकारों और व्यक्तियों या समूहों की मौलिक स्वतंत्रता को बढ़ावा देने और उनकी रक्षा करने के लिए, कुछ तरीकों से कार्य करने या कुछ कृत्यों से परहेज करने के लिए सरकारों के दायित्व पालन निर्दिष्ट को करता है।

मानवाधिकार की विशेषताएं

मानवाधिकार की विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- सार्वभौमः मानवाधिकार सभी लोगों के हैं। कुछ मौलिक मानवाधिकार मानदंड सभी सीमाओं और सभ्यताओं में प्रथागत अंतरराष्ट्रीय कानून द्वारा सार्वभौमिक सुरक्षा प्राप्त करते हैं।
- अदेयः मानवाधिकारों को विशिष्ट परिस्थितियों में और नियत प्रक्रिया के अलावा छीना नहीं जा सकता है।
- अन्योन्याश्रितः मानव अधिकार एक दूसरे पर निर्भर हैं।
- मानव अधिकार अविभाज्य हैंः आपको एक अधिकार इसलिये वंचित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह "कम महत्वपूर्ण" या "गैर–आवश्यक" है।
- गैर–भेदभावपूर्णः मानव अधिकारों का बिना किसी पूर्वाग्रह के सम्मान किया जाना चाहिए। यह लिंग, जाति, रंग जैसी गैर–विशिष्ट श्रेणियों की सूची के आधार पर भेदभाव को प्रतिबंधित करता है।

1948 से, विश्व स्तर पर मानव अधिकारों को बढ़ावा देने और उनकी रक्षा करने के लिए एक विस्तृत अंतरराष्ट्रीय प्रणाली का विकास हुआ। मानव अधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा सार्वभौमिक घोषणा पत्र जारी किया गया। यद्यपि 1945 के संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने 'सार्वभौमिक सम्मान, और सभी के लिए मानवाधिकार और मौलिक स्वतंत्रता' के प्रचार का आग्रह किया, लेकिन यह उन मानवाधिकारों को निर्दिष्ट करने में विफल रहा, जिनमें राज्यों को गारंटी और सम्मान देना था। इस दोष को संयुक्त राष्ट्र घोषणा द्वारा ठीक किया गया था। दुनिया के सभी क्षेत्रों के अलग–अलग कानूनी और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले प्रतिनिधियों द्वारा तैयार किए गए, घोषणा को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 10 दिसंबर 1948 को महासभा के संकल्प 217 ए (III) द्वारा घोषित किया गया था। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (UDHR), मानव अधिकारों के इतिहास में एक मील का पत्थर दस्तावेज़ है। यह सभी के लिए मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रता की व्याख्या करता है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र घोषणा कानूनी रूप से बाध्यकारी संधि नहीं है, लेकिन इसे आमतौर पर प्रथागत अंतरराष्ट्रीय कानून के रूप में देखा जाता है जो

टिप्पणी

कि किसी भी लेख का उल्लंघन करने वाली सरकारों को राजनयिक और नैतिक दबाव लागू करने के लिए एक उपकरण के रूप में उपयोग किया जाता है।

घोषणा के 30 अनुच्छेद एक साथ आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और नागरिक अधिकारों को समाहित करते हुए एक व्यापक वक्तव्य देते हैं। यह दस्तावेज़ सार्वभौमिक (यह हर जगह सभी लोगों पर लागू होता है) और अविभाज्य (सभी अधिकार समान रूप से किसी की मानवता की पूर्ण प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण हैं) दोनों हैं। 1948 में इसके अंगीकार के बाद से, UDHR का 500 से अधिक भाषाओं में अनुवाद किया गया है। यह दुनिया में सबसे अधिक अनुवादित दस्तावेज़ है – और कई नए स्वतंत्र राज्यों और कई नए लोकतंत्रों के गठन को प्रेरित किया है।

मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र क्या कहता है:

- सभी मानव स्वतंत्र और समान रूप से गरिमा और अधिकारों के साथ पैदा हुए हैं।
- हर कोई किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना सभी अधिकारों और स्वतंत्रता का हकदार है। जैसे नस्ल, रंग, लिंग, भाषा धर्म आदि।
- सभी को जीवन, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है।
- दासता और दास व्यापार सभी रूपों में निषिद्ध होंगे।
- हर किसी को कानून के समक्ष एक व्यक्ति के रूप में हर जगह मान्यता का अधिकार है।
- सभी कानून के समक्ष समान हैं और बिना किसी भेदभाव के कानून के समान संरक्षण के हकदार हैं।
- किसी को भी मनमानी गिरफ्तारी, हिरासत या निर्वासन के अधीन नहीं किया जाएगा। यह सभी कानूनी मामलों में एक स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकरण द्वारा निष्पक्ष और सार्वजनिक सुनवाई में सभी को पूर्ण समानता प्रदान करता है।
- किसी को कुछ साबित करने के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए जब तक कि वह सिद्ध न हो जाए।
- प्रत्येक व्यक्ति को उसकी निजता, परिवार, घर या पत्राचार के साथ या उसके सम्मान और प्रतिष्ठा पर हमला करने के लिए मनमाने हस्तक्षेप से सुरक्षा दी गई है।
- प्रत्येक को प्रत्येक राज्य की सीमाओं के भीतर स्थान–परिवर्तन और निवास की स्वतंत्रता का अधिकार है।
- एक और बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकार जो व्यक्तियों को दिया गया है, वह है अपने सहित , किसी भी देश को छोड़ने का अधिकार, और अपने देश वापस लौटने का अधिकार।
- मानवाधिकार के तहत सभी को राष्ट्रीयता के दावे का अधिकार है। इसका मतलब है कि किसी को भी उसकी राष्ट्रीयता से वंचित नहीं किया जा सकता है और न ही उसकी राष्ट्रीयता को बदलने के अधिकार से वंचित किया गया है।

टिप्पणी

- इन अधिकारों में शादी करने और जाति, राष्ट्रीयता या धर्म के किसी भी प्रतिबंध के बिना परिवार को खोजने का अधिकार है। पुरुषों और महिलाओं को विवाह, विवाह में रहने और इसके विघटन के समान अधिकार दिए गए हैं।
- प्रत्येक व्यक्ति को विचार, विवेक और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है; इस अधिकार में धर्म और विश्वास की स्वतंत्रता और अपने धर्म या शिक्षण, अभ्यास, पूजा और पालन में विश्वास प्रकट करने की स्वतंत्रता शामिल है।
- सभी को शांतिपूर्वक सभा और संघ की स्वतंत्रता का अधिकार है।
- सभी को राय और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है।
- प्रत्येक व्यक्ति को सीधे या स्वतंत्र रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने देश की सरकार में भाग लेने का अधिकार दिया जाता है।
- सभी को काम करने का अधिकार है, रोजगार के स्वतंत्र चुनाव का, काम की उचित और अनुकूल स्थिति और बेरोजगारी से रक्षा करना और समान काम के लिए समान वेतन का अधिकार है ।
- सभी को आराम करने का अधिकार है, जिसमें काम के घंटे और समय–समय पर छुट्टी की उचित सीमा शामिल है।
- शिक्षा पर सभी का अधिकार है। कम से कम प्रारंभिक और मौलिक अवस्था में शिक्षा निः शुल्क हो।

वैश्विक राजनीति के लिए मानवाधिकारों के निहितार्थ

सार्वभौमिक और मौलिक होने के नाते, मानवाधिकारों ने शक्तिशाली दायित्वों के लिए सरकारों को प्रेरित किया है जिसने उनके विदेशी और साथ ही घरेलू नीतियों को प्रभावित किया है। वर्तमान में मानवाधिकारों की सुरक्षा और इसकी प्राप्ति सरकार की एक महत्वपूर्ण भूमिका है, और शायद, उदारवादियों के अनुसार, इसका मूल उद्देश्य है। इसलिए राज्यों के बीच बातचीत कम से कम, एक मानवाधिकार आयाम पर भी होनी चाहिए। दूसरा तरीका जिसमें वैश्विक राजनीति के लिए मानवाधिकारों के निहितार्थ हैं, उनका मतलब यह है कि वे नैतिक चिंता की सीमा राष्ट्रीय सीमाओं से परे हैं; वास्तव में, सिद्धांत रूप में, वे राष्ट्रीय सीमाओं की अवहेलना करते हैं। मानवाधिकार मानवता की सभी मानवता पर एक मांग से कम नहीं है। मानव अधिकारों के सिद्धांत की बढ़ती स्वीकृति इसलिए महानगरीय संवेदनाओं की वृद्धि के साथ–साथ चलती है।

हालांकि, सरकारों ने इस प्रथागत कानून को समान रूप से लागू नहीं किया है। पूर्वी यूरोप, लैटिन अमेरिका और एशिया के समाजवादी और साम्यवादी देशों ने शिक्षा, नौकरी और स्वास्थ्य देखभाल जैसे सामाजिक कल्याण अधिकारों पर जोर दिया है, लेकिन अक्सर उनके नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों को सीमित कर दिया है। किंतु मानवाधिकार सिद्धांत एक स्वतंत्र, न्यायपूर्ण और शांतिपूर्ण दुनिया की दृष्टि देने का कार्य किया है, और हर व्यक्ति को लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसके लिए न्यूनतम मानक निर्धारित करता हैं। साथ ही मानवाधिकार ने एक सार्वभौमिक मानक प्रदान कर सरकारों की जवाबदेही तय की है।

टिप्पणी

5.3.2 पर्यावरण

पर्यावरणीय मुद्दों को आज पहले से कही ज्यादा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में महत्व दिया जा रहा है क्योंकि औद्योगिकीकरण और तकनीकी प्रगति ने पूरे विश्व में पर्यावरण सुरक्षा के लिए चिंताएं बढ़ा दी हैं। 1960 और 1970 के दशक तक पर्यावरण एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय मुद्दा नहीं बन पाया। यह एक पर्यावरणीय आंदोलन के उद्‌भव के माध्यम से हुआ जिसने वृद्धि और बढ़ती संपन्नता की पर्यावरणीय लागतों को उजागर करने की ओर ध्यान आकर्षित किया और विकसित पश्चिम राष्ट्रों में, मानव जाति और प्रकृति के बीच बढ़ते विभाजन पर भी ध्यान आकर्षित किया।

हेवुड के अनुसार पर्यावरण आंदोलन तीन सामान्य समस्याओं को संबोधित करता है। ये हैं:

- गैर–नवीकरणीय संसाधनों (कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस) के उपयोग को कम करने के माध्यम से प्राकृतिक सामग्रियों के संरक्षण का प्रयास
- नवीकरणीय संसाधनों (जैसे हवा, लहर और ज्वार की शक्ति) के उपयोग में वृद्धि, और जनसंख्या वृद्धि को कम करना, जिससे संसाधन उपभोग घटता है।
- आर्थिक गतिविधियों के अपशिष्ट उत्पादों से होने वाले नुकसान को कम करने का प्रयास करना है, उदाहरण के लिए, प्रदूषण के स्तर को कम करना, पुनर्चक्रण को बढ़ाना, और हरियाली (कम प्रदूषण फैलाने वाली) तकनीकों को विकसित करना।
- वन्यजीव और जंगल संरक्षण, अन्य प्रजातियों (पशु अधिकारों और पशु कल्याण) के लिए सम्मान और परिवर्तित कृषि प्रथाओं (जैविक खेती) के माध्यम से मानव जाति और प्रकृति के बीच संतुलन को बहाल करने का प्रयास।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया द्वारा पर्यावरण के क्षय की स्थिति को और अधिक अस्थिर बना दिया गया है, भले ही पर्यावरणीय गिरावट और संसाधनों के अत्यधिक उपयोग के बीच सटीक संबंध न हो लेकिन वैश्वीकरण जटिल और कभी–कभी विरोधाभासी प्रक्रिया है। वैश्वीकरण ने उद्योग का स्थानांतरण, भूमि से दूर जनसंख्या की वृद्धि, और अपशिष्टों और अपशिष्ट गैसों के संबद्ध उत्सर्जन के साथ–साथ खपत के बढ़ते स्तर पर प्रभाव डाला है। अक्सर विकसित देशों के बाजारों में बुनियादी वस्तुओं का निर्यात करने वाले गरीब देशों द्वारा अधिक आय पैदा करने हेतु , कभी–कभी स्वतंत्र व्यापार के प्रतिकूल पर्यावरणीय परिणाम भी हो सकते हैं, जो स्थानीय पारिस्थितिकी और आजीविका को बाधित कर सकते हैं।

धीरे –धीरे पर्यावरणीय मुद्दे भी अंतरराष्ट्रीय चिंता का एक प्रमुख केंद्र बन गये। इन्होंने एक बढ़ती जागरूकता को प्रदर्शित किया है कि पर्यावरणीय समस्याओं का आंतरिक रूप से अंतरराष्ट्रीय चरित्र है और वे राष्ट्रों की सीमाओं तक सीमित नहीं हैं। राज्यों की आर्थिक गतिविधियों ने पर्यावरण के क्षय की चिंताओं में वृद्धि की है। मानव निर्मित क्लोरोफ्लोरोकार्बन (CFC) और हैलोन जैसे रसायन ओजोन रिक्तीकरण का कारण बने जिसकी वजह से अम्लीय वर्षा जैसी समस्या उत्पन्न हुई है। जिसके क्षेत्रीय

टिप्पणी

प्रभाव ने 1970 के दशक में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चिंता उत्पन्न करने का कार्य किया। पर्यावरणीय मुद्दों पर आयोजित होने वाला पहला प्रमुख अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन स्टॉकहोम में 'यूएन कांफ्रेंस ऑन द ह्यूमन एनवायरनमेंट'(UNCHE) 1972 का संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन था। स्टॉकहोम सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) की स्थापना भी की गयी, जो बेहतर क्षेत्रीय और वैश्विक पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने के लिए राज्यों और अंतरराष्ट्रीय संगठनों की पर्यावरणीय गतिविधियों के समन्वय के लिए जिम्मेदार है। हालांकि, 1970 के दशक की वैश्विक मंदी और 1980 के दशक की शुरुआत में शीट युद्ध में दुबारा तेजी की शुरुआत ने पर्यावरणीय मुद्दों को अंतरराष्ट्रीय एजेंडे से नीचे धकेल दिया।

ब्रांडलैंड कमीशन रिपोर्ट, 1987 ने पर्यावरण संबंधी मुद्दों को समझने और संबोधित करने के लिए प्रमुख मुख्यधारा की रूपरेखा प्रदान की। इसने 'सतत विकास' के विचार द्वारा पर्यावरण और विकास के मुद्दों पर बल दिया।1987 ब्रांडलैंड कमीशन रिपोर्ट के अनुसार "सतत विकास वह विकास है जो भविष्य की पीढ़ियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करता है"। ब्रांडलैंड रिपोर्ट ने 1992 के रियो के "पृथ्वी सम्मलेन" के लिए रूपरेखा तय की, जो कि स्टॉकहोम सम्मेलन के 20 साल बाद आयोजित किया गया था। इसका रिपोर्ट का राजनीतिक सार विकसित राज्यों की पर्यावरणीय चिंताओं और दक्षिण की विकास मांगों के बीच एक समायोजन करना था, जिसके बिना कोई पृथ्वी शिखर सम्मेलन और कोई रियो प्रक्रिया नहीं हो सकती थी।

1990 के दशक के बाद से, पर्यावरणीय बहस तेजी से वैश्विक तापमान में वृद्धि के कारण 'जलवायु परिवर्तन' के मुद्दे पर केंद्रित हुई। जलवायु परिवर्तन के बारे में प्रारंभिक चिंताओं ने सीएफसी उत्सर्जन पर ध्यान केंद्रित किया था, लेकिन यह समय के साथ तथाकथित 'ग्रीन हाउस गैसों' के प्रभाव में स्थानांतरित हो गया । पृथ्वी शिखर सम्मेलन के परिणामों में से एक 'यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कन्वेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज' (एफसीसीसी) की स्थापना थी, जो ग्रीनहाउस गैस सांद्रता को एक स्तर पर स्थिर करने का पहला प्रयास था जो खतरनाक मानव जनित (मानव–प्रेरित) जलवायु परिवर्तन को रोक देगा।

वैश्विक तापमान में वृद्धि और जलवायु परिवर्तन

जलवायु परिवर्तन न केवल सबसे प्रमुख वैश्विक पर्यावरणीय मुद्दा है, बल्कि यह सबसे जरूरी और महत्वपूर्ण चुनौती के रूप में वर्तमान में सामने आया है, जिसका अंतरराष्ट्रीय समुदाय सामना कर रहे हैं। 1990 के दशक के दौरान, वैश्विक तापमान में वृद्धि के कारण जलवायु परिवर्तन के मुद्दे ने अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण एजेंडा पर एक उच्च महत्ता हासिल की। ऐसा इसलिए था क्योंकि पर्यावरण समूह, जैसे कि ग्रीनपीस और फ्रेंड्स ऑफ़ द अर्थ, ने अपनी गतिविधियों का प्राथमिक केंद्र ग्लोबल वार्मिंग को रोकने के लिए तेजी से प्रयास पर लगाया। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में औद्योगिक उत्सर्जन ने ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा किया है जिसने वैश्विक तापमान में वृद्धि को प्रभावित किया है। परिणामी प्रभाव खतरनाक हैं। तापमान में वृद्धि से ध्रुवीय क्षेत्र के सदियों पुराने बर्फ के

टिप्पणी

ग्लेशियर पिघल जाएंगे, जिससे दुनिया के विभिन्न हिस्सों में समुद्र के स्तर में वृद्धि होगी। कई द्वीप–राज्यों को दुनिया के नक्शे से गायब होने का खतरा है। इसके अलावा, ऊंचे पहाड़ों में बर्फ के आवरण के पिघलने से नदियों का विस्तार होगा और विशाल क्षेत्रों में बाढ़ आएगी, जिससे पृथ्वी पर अपूरणीय तबाही होगी। ग्लोबल वार्मिंग से दुनिया के कई हिस्सों में गंभीर जलवायु परिवर्तन होता है, जिससे अभूतपूर्व बाढ़, सूखा, चक्रवाती तूफान और पारिस्थितिक तंत्र का व्यापक विघटन होता है।

पर्यावरण पर किये गए महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय प्रयास

पर्यावरण पर किए गए अंतर्राष्ट्रीय प्रयास को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- यूनाइटेड नेशंस कांफ्रेंस ऑन द एनवायरनमेंट (स्टॉकहोम) 1972 : संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) की स्थापना 1972 में स्टॉकहोम में हुई थी। इस संगठन का प्रयास मानव पर्यावरण को प्रभावित करने वाले सभी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना तथा पर्यावरण संबंधी जानकारी का संग्रहण, मूल्यांकन एवं पारस्परिक आदान–प्रदान करना है।
- लुप्तप्राय प्रजातियों (CITES) के अंतरराष्ट्रीय व्यापार पर कन्वेंशन1973 : सुनिश्चित करता है कि वन्यजीवों और पौधों में अंतरराष्ट्रीय व्यापार से उनके अस्तित्व को खतरा नहीं है।
- ओजोन परत के संरक्षण के लिए वियना कन्वेंशन 1985 : जिसने आर्कटिक क्षेत्र में ओजोन छिद्र 'के अस्तित्व की पुष्टि की, और सीएफसी गैसों के उपयोग को कम करने का प्रयास किया।
- ब्रांडलैंड कमीशन रिपोर्ट 1987 : सतत विकास के विचार पर प्रकाश डाला।
- जलवायु परिवर्तन पर अंतरराष्ट्रीय पैनल (IPCC) 1988 : जो जलवायु परिवर्तन पर यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कन्वेंशन के कार्यान्वयन की रिपोर्ट देता है।
- पर्यावरण और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (UNCED) 1992 : रियो डी जनेरियो में आयोजित और आमतौर पर जिसे 'पृथ्वी सम्मेलन' कहा जाता है, जिसमें जलवायु परिवर्तन और जैव विविधता पर सम्मेलनों को शामिल किया गया और सतत विकास पर आयोग की स्थापना की गई।
- क्योटो प्रोटोकॉल, 1997 : जिसने चरणबद्ध प्रक्रिया में ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को सीमित करने के लिए विकसित राज्यों द्वारा कानूनी रूप से बाध्यकारी प्रतिबद्धता की स्थापना की।
- सतत विश्व सम्मेलन विकास (WSSD) 2002 : पर्यावरण और विकास एवं स्वच्छ जल, स्वच्छता और कृषि सुधार प्रदान करने में व्यावहारिक प्रगति के साथ गरीबी उन्मूलन पर जोर दिया गया था।
- संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन 2009 : आमतौर पर कोपेनहेगन शिखर सम्मेलन के रूप में जाना जाता है, यह सम्मेलन क्योटो प्रोटोकॉल के आगे की रूपरेखा तैयार करने के लिए बुलाया गया।

टिप्पणी

5.3.3 आतंकवाद

1990 के दशक तक, आतंकवाद को व्यापक रूप से द्वितीय दर्जे की सुरक्षा चिंता माना जाता था, जिसे अक्सर अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अनदेखा किया जाता था। हालांकि, 11 सितंबर 2001 की घटनाओं ने वैश्विक घटनाक्रम को नाटकीय ढंग से बदल दिया, जिससे आतंकवाद की प्रकृति और प्रभाव को बढ़ावा मिला। कुछ लोगों ने आतंकवाद, के 'वैश्विक' स्वरुप ग्रहण करने पर चिंता व्यक्त करते हुए आतंकवाद को इक्कीसवीं सदी का प्रमुख सुरक्षा खतरा माना, जो इस तथ्य को दर्शाता है कि वैश्वीकरण के दौर में गैर–राज्य अभिकर्ता के रूप में आतंकवादी समूहों को राज्यों पर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

आतंकवाद का अर्थ

आतंकवाद को आमतौर पर हिंसा के कृत्यों को संदर्भित करने के लिए समझा जाता है जो राजनीतिक या वैचारिक उद्देश्यों की खोज में नागरिकों को निशाना बनाते हैं। कानूनी शब्दों में, यद्यपि अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने अभी तक आतंकवाद, मौजूदा घोषणाओं, प्रस्तावों और सार्वभौमिक "क्षेत्रीय" संधियों की एक व्यापक परिभाषा को अपनाया है, लेकिन इसके विशिष्ट पहलुओं से संबंधित संधियां कुछ कृत्यों और मूल तत्वों को परिभाषित करती हैं। 1994 में, महासभा के घोषणापत्र को अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने के उपायों पर, अपने संकल्प 49/60 में, ने कहा कि आतंकवाद में "उन आपराधिक कृत्यों की गणना की जाती है, जो आम जनता, व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में किसी विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्य के लिए आतंक की स्थिति को भड़काते" और "इस तरह के कार्य" किसी भी परिस्थिति में अनुचित हैं, भले ही उन्हें राजनीतिक, दार्शनिक, वैचारिक, नस्लीय, जातीय, धार्मिक या अन्य प्रकृति के विचार द्वारा उचित ठहराने के लिए लागू किया जाए। "

गुडइन के अनुसार 'यह राजनीतिक हिंसा का एक रूप है जिसका उद्देश्य भय और आशंका का माहौल बनाकर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना है'। हिंसा का उपयोग आतंकवाद की सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। यहां हिंसा का प्रयोग मुख्य रूप से हत्या और विनाश के बारे में नहीं, बल्कि हत्या और विनाश के संभावित भय के बारे में बेचैनी और चिंता पैदा करना है। आतंकवादी हिंसा अनिश्चितता और व्यापक भय की आशंका पैदा करने के लिए प्रयोग किया गया है। आतंकवाद, आम नागरिकों के साथ सत्ता और प्रतिष्ठा के प्रतीकों पर हमले और प्रमुख व्यवसायियों, वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं के अपहरण या हत्या आमतौर पर आतंकवाद के कृत्यों के भिन्न भिन्न रूप होते हैं। फिर भी, आतंकवाद की अवधारणा बहुत समस्याग्रस्त है। विद्वानों में भ्रम की स्थिति है कि आतंकवाद को किस आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिए।

अनियमित युद्ध के अन्य रूपों के साथ, आतंकवाद एक कथित गलत को सही करने के लिए सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्यों के लिए राजनीतिक परिवर्तन प्राप्त करने के लिए निर्धारित किया गया है। आतंकवाद, हालांकि, अनियमित युद्ध का सबसे कमजोर रूप है जिसके साथ राजनीतिक परिदृश्य को बदलने का लक्ष्य है। इस कमजोरी का

टिप्पणी

कारण यह है कि आतंकवादी समूह शायद ही कभी जनता के व्यापक समर्थन को प्राप्त करते हैं। आतंकवादी समूहों को अक्सर अपने उद्देश्यों के लिए व्यापक समर्थन की कमी होती है क्योंकि परिवर्तन के लिए उनके लक्ष्य कट्टरपंथी विचारों पर आधारित होते हैं जिनमें व्यापक अपील नहीं होती है। परिवर्तन को प्रभावित करने के लिए, आतंकवादियों को कठोर प्रतिक्रियाओं को भड़काना होता जो परिवर्तन के उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते हैं या अपने प्रतिद्वंद्वी के नैतिक संकल्प को कमजोर करते हैं।

आतंकवाद का विकास

मानव अनुभव में आतंकवाद कोई नई घटना नहीं है। पूरे मानव इतिहास में हिंसा इस्तेमाल उन लोगों द्वारा किया गया जिन्होंने राज्यों, राजाओं और राजकुमारों का विरोध किया। इस तरह की हिंसा को आतंकवाद की हिंसा से अलग है। एक सरकार के विरोध में हिंसा अक्सर सैनिकों और शासन करने वालों के खिलाफ लक्षित होती है। हालांकि आतंकवादी हिंसा की विशेषता है, भोले भाले नागरिकों के खिलाफ हिंसा का उपयोग जिससे जनता में भय या आतंक पैदा किया जा सके। 18 वीं शताब्दी के क्रांतिकारी फ्रांस में आतंकवाद मौजूद था, साथ ही कुछ 2000 साल पहले रोमन शासन के विरोध में फिलिस्तीन के सरगनाओं के बीच भी आतंकवाद का रूप देखा जा सकता था।

1945 के बाद की अवधि में, आतंकवाद में आम तौर पर एक राष्ट्रवादी उन्मुखता थी। 1940 और 1950 के दशक के दौरान यह अफ्रीका, एशिया और मध्य पूर्व में तीसरे विश्व के साम्राज्यवादी संघर्षों से जुड़ा था, बाद में फिलिस्तीन मुक्ति संगठन (पीएलओ) जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों और ब्लैक सितंबर जैसे समूहों द्वारा किया गया। विकसित पश्चिमी समाजों में अप्रभावित राष्ट्रीय या जातीय अल्पसंख्यकों द्वारा आतंकवाद का उपयोग किया गया था, विशेष रूप से उत्तरी आयरलैंड में IRA द्वारा और स्पेन की बास्क क्षेत्र में ETA द्वारा और क्यूबेक में FLQ द्वारा। फिर भी, न्यूयॉर्क और वाशिंगटन पर 11 सितंबर के हमलों ने कई लोगों को आश्वस्त किया कि आतंकवाद को नए और अधिक खतरनाक रूप में पुनर्जन्म हुआ है, जिससे निष्कर्ष निकाला गया कि यह अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए प्रमुख खतरा बन गया है। कुछ मामलों में, आतंकवादी गतिविधियों ने अपेक्षाकृत तेजी से बदलाव हासिल किया है। उदाहरण के लिए, 2004 में मैड्रिड में हुए बम विस्फोटों ने नाटकीय अंदाज में स्पेन में चुनावों के नतीजों को प्रभावित किया और वास्तविक सबूत बताते हैं कि हमले को इस तरह के उद्देश्य को ध्यान में रखकर बनाया गया था। कई आतंकवादी नेताओं को उम्मीद है कि उनके कार्यों से एक राज्य द्वारा अनुपातहीन प्रतिक्रिया हो सकती है जो सार्वजनिक या अंतरराष्ट्रीय राय को बाधित करती है और उनके कारण के लिए समर्थन बढ़ाती है। आतंकवादी अभियान, हालांकि, सार्थक परिणाम प्राप्त करने के लिए अक्सर वर्षों या दशकों का समय लेते हैं और उपयोग की जाने वाली बल की मात्रा और प्रकृति समस्याग्रस्त हो सकती है। आज, भारत, इजरायल, फ़्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, इंडोनेशिया, यूनाइटेड किंगडम, श्रीलंका, अफगानिस्तान और कोलंबिया में आतंकवादी गतिविधि देखी जा सकती है। विश्व व्यापार केंद्र और पेंटागन के खिलाफ 11 सितंबर

टिप्पणी

के आत्मघाती हमलों और पेंसिल्वेनिया में विमान दुर्घटना के परिणामस्वरूप किए गए हमले, भारत में नवम्बर 2008 (26 /11) की घटना ने वैश्विक सुरक्षा के लिए विशेष चिंता का विषय उत्पन्न किया है।

5.3.4 लैंगिक मुद्दे

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन पारंपरिक रूप से लिंग आधारित नहीं रहा है। एक अनुशासन के रूप में ये मुख्य रूप से राज्यों और अंतर–राज्य संबंधों पर केंद्रित था, लैंगिक राजनीति और लैंगिक संबंध कम या बिना किसी प्रासंगिकता के दिखाई दिए। नारीवादी दृष्टिकोण को 1980 के दशक के बाद से , शीत युद्ध की समाप्ति के समय में अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अनुशासन में प्रमुखता मिली है। इसने एक बढ़ती हुई स्वीकृति को दर्शाया कि दुनिया के लोगों की समझ सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों से बनी है, जिसमें वे रहते हैं और काम करते हैं। इस प्रकार लिंग विश्लेषण पुरुष और स्त्री पहचान, प्रतीकों और संरचनाओं का विश्लेषण है और वे वैश्विक राजनीति को कैसे आकार देते हैं। महिलाएं, दूसरे शब्दों में, हमेशा से विश्व राजनीति का हिस्सा रही हैं, किंतु उनकी भूमिका और योगदान को नजरअंदाज कर दिया गया था।

लैंगिक दृष्टिकोण अंतरराष्ट्रीय संबंधों की नारीवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं । नारीवादी लिंग को शक्ति के असमान संरचनात्मक संबंध के रूप में परिभाषित करते हैं। नारीवादी लिंग का उपयोग करके, इसे इस तरह से परिभाषित करते है, जिससे उन्हें यह समझने में मदद मिल सके कि सभी समाजों में महिलाएं पुरुषों के सापेक्ष वंचित क्यों हैं। यह दृष्टिकोण युद्ध और राष्ट्रीय सुरक्षा की पुरुषत्व अवधारणा की जांच करता है, जिसमें कहा गया है कि राज्यों की राष्ट्रीय सुरक्षा नीतियों को अक्सर पुरुष विशेषताओं के संदर्भ में वैधता दी जाती है।

अंतरराज्यीय राजनीति के संदर्भ में केवल अंतरराष्ट्रीय राजनीति को परिभाषित करने से नारीवादी संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार जबकि महिलाएं हमेशा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में खिलाड़ी रही हैं, उनकी भागीदारी अंतर–राज्यीय नीति–निर्माण के बजाय सामाजिक आंदोलनों जैसे गैर–सरकारी सेटिंग्स में अधिक प्रयोग हुई है। उनकी भूमिका को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कोई महत्व नहीं मिला है। महिलाओं की आवाज़ शायद ही कभी राज्य शक्ति या सैन्य नेतृत्व के संदर्भ में सुनी गई हो। फिर भी, महिलाएं उन फैसलों से बहुत प्रभावित होती हैं जो उनके नेता द्वारा लिए जाते हैं।

नारीवाद को सामान्य तौर पर महिलाओं की सामाजिक उन्नति के लिए एक आंदोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। नारीवादी सिद्धांत दो केंद्रीय मान्यताओं पर आधारित हैः पहला कि महिलाएं अपने लिंग के कारण वंचित हैं और दूसरा कि इस असमानता को समाप्त किया जा सकता है। इस तरह, नारीवादियों ने उस पर प्रकाश डाला है, की वे राजनीतिक संबंधों को, पुरुषों के वर्चस्व और महिलाओं के अधीनता के रूप में देखते है, यदि यह सभी समाज में न भी हो तो अधिकतर समाजों में ऐसा ही है। यद्यपि 'नारीवाद' शब्द बीसवीं सदी का आविष्कार रहा है, लेकिन इस तरह के विचार कई अलग–अलग संस्कृतियों में व्यक्त किए गए हैं, ग्रीस, चीन और भारत की प्राचीन सभ्यताओं के रूप में भी इसका पता लगाया जा सकता है।

टिप्पणी

नारीवादियों ने लिंग को मुख्यतः लैंगिक भिन्नता के सामाजिक निर्माण के रूप में संदर्भित किया है। उन्होंने 'जेंडर' को स्पष्ट रूप से 'सेक्स' से अलग किया है। ज्यादातर नारीवादियों के लिए, 'सेक्स' जैविक है इसलिए महिलाओं और पुरुषों के बीच के असाध्य अंतर को उजागर करता है, जबकि 'जेंडर' महिलाओं और पुरुषों के बीच सांस्कृतिक रूप से परिभाषित भेद का एक समूह को दर्शाता है। हालांकि, नारीवाद हमेशा से ही एक अत्यधिक विविधतापूर्ण राजनीतिक परंपरा रही है, जिसमें कभी–कभी उप–परंपराओं की व्यापक श्रेणी दिखाई देती है जैसे– 'उदारवादी' नारीवाद, 'समाजवादी' या 'मार्क्सवादी' नारीवाद, 'कट्टरपंथी' नारीवाद, 'उत्तर आधुनिक' नारीवाद, 'मनोविश्लेषणवादी' नारीवाद, 'उत्तर औपनिवेशिक' नारीवाद, 'और इसी तरह के अन्य प्रकार।

नारीवादी दृष्टिकोण या मुद्दों को कई 'नारीवाद के लहर' के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में नारीवाद की पहली लहर का उदय हुआ जिसे महिला मताधिकार के लिए आंदोलन, मतदान के अधिकार के द्वारा आकार दिया गया। इसकी मुख्य मान्यता यह थी कि महिलाओं को पुरुषों के समान कानूनी और राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए। उनका विशेष जोर इस आधार पर था कि महिला मताधिकार के आधार पर यदि महिलाएं मतदान कर सकती हैं, तो अन्य सभी प्रकार की असमानता और अन्य प्रकार के यौन भेदभाव या पूर्वाग्रह समाप्त हो जाएंगे। नारीवाद की दूसरी लहर इस मान्यता के साथ उत्पन्न हुई थी कि राजनीतिक और कानूनी अधिकारों की उपलब्धि ने 'महिला समस्या' को हल नहीं किया था। इसका लक्ष्य केवल राजनीतिक मुक्ति नहीं था, बल्कि महिला मुक्ति और बढ़ते महिला मुक्ति आंदोलन के विचारों में परिलक्षित होता है, जो 1960 और 1970 के दशक में उभरे जो प्रमुख तथाकथित 'नए' सामाजिक आंदोलनों में से एक थे। इस आंदोलन का एक प्रमुख विषय यह था कि महिलाओं की मुक्ति केवल राजनीतिक सुधारों या कानूनी परिवर्तनों से नहीं हो सकती थी, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की एक अधिक दूरगामी और क्रांतिकारी प्रक्रिया की मांग आवश्यक है।

1990 के दशक की शुरुआत में नारीवाद की तीसरी–लहर की शुरुआत हुई, जो दूसरी लहर की कथित विफलताओं की प्रतिक्रिया के रूप में हुई और दूसरी लहर द्वारा बनाई गई पहल और आंदोलनों के खिलाफ प्रतिक्रिया के रूप में भी। तृतीय–लहर का नारीवाद दूसरी लहर की आवश्यक नारीवादी व्याख्या जो (उनके अनुसार) ऊपरी मध्यवर्गीय श्वेत महिलाओं के अनुभवों पर अधिक जोर देती है को चुनौती देना चाहता है या उससे बचना चाहता है । लिंग और कामुकता की एक उत्तर–संरचनावादी व्याख्या तीसरी लहर की विचारधारा के केंद्र में है। तृतीय–लहर नारीवादी अक्सर "सूक्ष्म राजनीति" पर ध्यान केंद्रित करते हैं और दूसरी लहर के प्रतिमान को चुनौती देते हैं कि महिलाओं के लिए अच्छा क्या है या क्या अच्छा नहीं है।

नारीवाद में राज्य का सिद्धांत शामिल नहीं है। इसके अलावा, नारीवादियों ने आमतौर पर राज्य सत्ता की प्रकृति को केंद्रीय राजनीतिक मुद्दा नहीं माना है, इसके बजाय परिवार जैसे संस्थानों पर केंद्रित पुरुष सत्ता की 'गहन संरचना' पर ध्यान केंद्रित करना पसंद करते हैं। फिर भी, कट्टरपंथी नारीवादियों ने विशेष रूप से तर्क दिया है

कि पितृसत्ता राज्य के माध्यम से संचालित होती है, जिसका अर्थ है कि राज्य वास्तव में पितृसत्तात्मक राज्य है। हालांकि, इस तर्क के विपरीत साधनवादी और संरचनात्मक संस्करण हैं। साधनवादी दृष्टिकोण राज्य को उनके हितों की रक्षा और पितृसत्ता की संरचनाओं को बनाए रखने के लिए पुरुषों द्वारा उपयोग किए जाने वाले 'एजेंट' या 'साधन' से थोड़ा अधिक मानता है।

नारीवादी सुरक्षा को भी अधिक व्यापक रूप से परिभाषित करते हैं। वे न केवल राज्य की सुरक्षा के संदर्भ में, बल्कि व्यक्तियों की शारीरिक और आर्थिक सुरक्षा के संदर्भ में भी देखते हैं। उनके अनुसार एक समूह के रूप में महिलाओं को कुछ आर्थिक असुरक्षा का सामना करना पड़ता है। यह समझाने के लिए, अंतरराष्ट्रीय नारीवादियों ने श्रम के एक लिंग विभाजन की ओर इशारा किया। महिलाओं और पुरुषों के काम का मतलब क्या है, इसके बारे में अलग–अलग उम्मीदें तब पैदा होती हैं जब महिलाएं कम वेतन वाली नौकरियों में और घर में अनियंत्रित काम का एक बड़ा हिस्सा लेकर काम करती हैं।

इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में लैंगिक मुद्दों के प्रवेश ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न अवधारणाओं को नारीवाद के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया जिसे अभी तक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कोई महत्ता नहीं प्राप्त थी। उन्होंने लैंगिक मुद्दों को पुरुष और स्त्री के बीच के आसमान शक्ति संबंधों की संरचना के रूप में संदर्भित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

4. संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण की स्थापना कब की गई थी?

   (क) सन् 1971 (ख) सन् 1972

   (ग) सन् 1973 (घ) सन् 1974

5. पर्यावरण और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन किस सन् में हुआ?

   (क) सन् 1772 (ख) सन् 1982

   (ग) सन् 1992 (घ) सन् 2002

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (ख)
5. (ग)

टिप्पणी

5.5 सारांश

किसी भी देश की विदेश नीति उसके राष्ट्रीय हितों को प्राप्ति और दूसरे देशों के साथ उसके संबंधों के संचालन का माध्यम होती है, जो उस देश के बाह्य और आंतरिक वातावरण के कारकों से प्रभावित होती है।

भारत की विदेश नीति पंचशील, गुटनिरपेक्षता, अहस्तक्षेप, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध, शांति एवं निरस्त्रीकरण, विश्व बंधुत्व और अहिंसा जैसे सिद्धांतों पर आधारित है। ये सिद्धांत उसके ऐतिहासिक, दार्शनिक, विचारधारा एवं व्यक्तित्व जैसे तत्वों द्वारा निर्धारित हुए हैं।

भारत–अमेरिका विश्व के दो विशाल लोकतान्त्रिक देश हैं जिनमें कुछ साझा हितों और मूल्यों के बावजूद भी इनके संबंधों में बहुत उतार–चढाव रहा है। शीत युद्ध काल के दौरान जहां दोनों देशों के संबंध संदेह और परस्पर अविश्वास के घेरे में थे वहीं शीत युद्ध की समाप्ति के बाद के काल में दोनों देशों ने मजबूती से अपने आर्थिक राजनीतिक और रक्षा सहयोग संबंधों को आगे बढ़ाया है जिसमे दोनों ही राष्ट्रों के अपने पारस्परिक हित निहित हैं।

भारत और चीन के संबंध भी स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों में तो अत्यंत मधुर रहे किंतु बाद की भू–राजनीति और क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं ने दोनों राष्ट्रों के संबंधों में प्रतिद्वंदिता का संचार किया। सीमा विवाद और तिब्बत के मुद्दे को लेकर दोनों के संबंधों में निरंतर विवाद बना रहा। आर्थिक क्षेत्र में सहयोग के बावजूद राजनीतिक मुद्दों के विवाद का समाधान अभी तक नहीं निकला है जिसने पिछले कुछ वर्षों में दोनों देशों की सीमाओं पर तनाव को गंभीर किया है।

रूस भारत का हमेशा से ही विश्वसनीय साझेदार रहा है जिसने सहयोग के सभी क्षेत्रों में भारत की सहायता की है। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और रक्षा सभी क्षेत्रों में दोनों देशों के बीच घनिष्ट संबंध रहे हैं। हालांकि शीत युद्ध के बाद वैश्विक समीकरणों में आये बदलाव ने भारत की रूस पर निर्भरता को काम किया है और पश्चिम देशों की ओर झुकाव में वृद्धि की है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति पारम्परिक रूप से राज्य के अंतः क्रियात्मक संबंधों पर ही केंद्रित रही है किंतु वर्तमान विश्व में बहुत सारे नए मुद्दे अंतरराष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में आये हैं ये हैं –मानवाधिकार, पर्यावरण, आतंकवाद और लैंगिक मुद्दे। इन मुद्दों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति, सुरक्षा और राष्ट्रीय हित जैसी अवधारणाओं को नए तरीके से प्रभावित किया है। वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कोई भी देश इन मुद्दों की अनदेखी नहीं कर सकता है।

टिप्पणी

5.6 मुख्य शब्दावली

- **भू राजनीतिक पहचान** : किसी देश की भौगोलिक पहचान देश की भौगोलिक स्थिति के अनुसार होती है। भौगोलिक राजनीति अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संबंधों को प्रभावित करती है। यह मूल रूप से राजनीति और भूगोल, जनसांख्यिकी, अर्थशास्त्र के बीच संबंधों का अध्ययन है।
- **आर्थिक उदारीकरण** : इसका मतलब है कि अविनियमन, निजीकरण और उदारीकरण यानी एक तेजी से एकीकृत वैश्विक वित्तीय प्रणाली में राज्य की भूमिका में कमी। यह लगभग हर चीज के लिए लगभग हर जगह अनियंत्रित बाजारों की बिक्री से संबंधित है।
- **अम्लीय वर्षा** : सल्फर, नाइट्रिक और अन्य अम्लों द्वारा दूषित वर्षा जो जीवाश्म ईंधन के जलने से वायुमंडल में निकलती है।
- **ग्रीनहाउस गैसें** : गैसें (जैसे कार्बन डाइऑक्साइड, जल वाष्प, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड और ओजोन) जो पृथ्वी के निचले वातावरण को गर्म करती हैं।
- **पुरुषत्ववाद** : लिंग पूर्वाग्रह जो पुरुष या पुरुषवादी विचारों का श्रेष्ठ या वस्तुपरक और तर्कसंगत के रूप में चित्रण करता है।

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत–अमेरिका के बीच समानता के पहलुओं का उल्लेख करें?
2. शीत–युद्ध काल में भारत अमेरिका संबंध की मुख्य विशेषता क्या थी?
3. भारत ने तिब्बत पर चीन की संप्रभुता को कब स्वीकार किया था?
4. मानवाधिकार से आप क्या समझते हैं? इसकी सार्वभौमिक घोषणा कब की गई?
5. 'ग्लोबल वार्मिंग' क्या है?
6. आतंकवाद को परिभाषित कीजिये?
7. नारीवादी विचारकों ने किस मुद्दे की ओर ध्यान आकर्षित किया?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति की व्याख्या कीजिए?
2. भारत और अमेरिका के संबंधों का परीक्षण कीजिए?
3. भारत–चीन संबंधों का मूल्यांकन कीजिए?
4. भारत और रूस के शीत युद्ध से पहले और शीत युद्ध के बाद के संबंधों का वर्णन कीजिए ?
5. अंतरराष्ट्रीय राजनीति के समकालीन मुद्दों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए ?

टिप्पणी

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

- Baylis, John et al. (2008) The Globalization of World Politics, Oxford University Press.
- Dikshit , J. N. (2018) Bharat ki Videsh Neeti, Delhi : Prabhat Prakashan
- Heywood, Andrew (2014), Global Politics, UK: Palgrave Macmillan.
- Khanna, V.N. (2018), Foreign Policy of India, Noida: Vikas Publishing House.
- Pant, Pushpesh (2018), Bharat ki Videsh Niti, New Delhi: Tata McGraw-Hill Education.
- Yadav R. S. (2013), Bharat ki Videsh Niti By R S Yadav New Delhi: Pearson Education India.